वा कोई भी अङ्ग प्रभुके रूप, गुण या चरित्रमें लगा है। हृदयमें वास करनेको कहना यह ऐश्वर्य-कथन है। दोहा १३१ तक ऐश्वर्य-स्वरूपके लिये स्थान बताये; अब माधुर्य स्वरूपके योग्य स्थान बताते हैं; इसीसे **'भानुकुल नायक'** सम्बोधन दिया, जैसे ऐश्वर्यस्वरूपके निवास-स्थान-कथन समय 'राम' सम्बोधन दिया था—*'सुनहु राम अब कहउँ निकेता।'*

नोट—१ **'समय सुखदायक'** अर्थात् इस समय जैसा आपने रूप धारण किया है उसके योग्य—***'जस काछिय तस चाहिय नाचा।'*** (१२७।८) पुनः, जो आजकल सुखद होगा।

नोट—२ **'सब भाँति सुपासू'** इति। वहाँ फल-फूल-कंद बहुत हैं, बेलके वृक्ष हैं, इत्यादि भोजनके साधन बहुत हैं। पर्वतका जल मीठा है। पर्वतपर अनेक वृक्ष, लताएँ और फल-मूल बहुत हैं। ऋषि-मुनियोंके आश्रम हैं। बड़े-बड़े हाथियों और मृगोंके झुंड घूमा करते हैं। कोकिल-मयूरादिकी सुन्दर ध्वनि सुनायी पड़ती है। वह पर्वत बड़ा पवित्र और रमणीय है। नदी, सोते, पर्वत-शिखर, दरीं, कन्दरा और झरने बहुत हैं। वहाँ दुष्ट लोग नहीं रहते, वह बड़ा ही सुखकर स्थान है। यह जो वाल्मीकि० २। ५४। ३८—४३ तथा २। ५६। ६—१५ में कहा है यही **'सब भाँति सुपासू'** है। यहाँ सुखपूर्वक रह सकेंगे। किसी ऋतुमें कोई कष्ट न होगा। यही बात आगे कोल-किरातोंने कही है। यथा—***'यहाँ सकल रितु रहब सुखारी'।*** मृगया आदिके लिये भी सुपास है। गी० २। ४४ में भी जो वर्णन है—***'फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल, ललित लता जाल हरति छबि बितान की। मंदाकिनि तटनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर, धीर मुनि गिरा गँभीर सामगान की॥ मधुकर पिकबरहि मुखर सुंदर गिरि निर्झर झर जलकन घन छाँह छन प्रभा न मान की। सब रितु रितुपति प्रभाउ संतत बहै त्रिबिध बाउ जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की॥'*** वह भी **'सब भाँति सुपासू'** में आ जाता है।

नोट—३ **'सैल सुहावन···'** इति। पर्वतकी सुहावनता झरनों, हरे-भरे वृक्षों इत्यादिसे है। इसकी सुहावनता आगे कविने स्वयं वर्णन की है। वनकी शोभा है कि फल-फूलसे सम्पन्न हो और करि-केहरि आदि सब उसमें विहार करें। अतः **'चारु'** कहकर इनका विहार कहा।

प० प० प्र०—**'अत्रि प्रिया'** इति। अत्रि=अ+त्रि=त्रिगुणातीत व्यतिरेक ज्ञानी। अत्रिप्रिया श्रीअनुसूयाजी हैं। अनुसूया=अन्-असूया=जिनमें असूयाकी गन्ध भी नहीं है। जो जीव त्रिगुणातीत होता है उसकी बुद्धिरूपिणी स्त्री भी असूयारहित होती ही है।

नोट—४ **'निज तप बल आनी'** इति। श्रीअनुसूयाजीकी विस्तृत कथा अरण्यकाण्ड ५ (१-२) में दी गयी है। मन्दाकिनीके लानेकी कथा संक्षेपसे यह है—एक बार सौ वर्षकी अनावृष्टिसे अकाल पड़ गया। सबको दुःखी न देख सकनेके कारण अत्रिजीने समाधि लगा ली। श्रीअनुसूयाजी उनकी सेवामें अन्न-जलादिका त्यागकर वहीं उपस्थित रहीं। दोनोंका कठिन तप देखकर देवता, ऋषि और गङ्गाजी उनके दर्शनको आये, सबके चले जानेपर गङ्गा और शिवजी वहीं ठहर गये। गङ्गाने सोचा कि यदि मैं ऐसी महान् सतीका उपकार कर सकूँ तो मेरे बड़े भाग्य हैं। ५४ वर्ष बीतनेपर महर्षिने समाधि छोड़ी और अनुसूयाजीसे जल माँगा। ये कमण्डलु लेकर निकलीं और चिन्ता करने लगीं कि कहाँसे स्वामीके लिये जल लाकर उन्हें संतुष्ट करूँ। गङ्गाजीने मूर्तिमान् होकर दर्शन दिया और पूछनेपर बताया कि तुम्हारी तपस्या आदिसे प्रसन्न होकर मैं आयी हूँ, तुम जो माँगो वही मैं दूँ। इन्होंने जल माँगा। गङ्गाजीने गड्ढा खोदनेको कहा। गड्ढा खुदनेपर गङ्गाजी उसमें उतरकर जलरूप हो गयीं। श्रीअनुसूयाजीने जल लिया और प्रार्थना की कि जबतक मेरे स्वामी यहाँ न आ जायँ तबतक आप यहीं उपस्थित रहें। जल लेकर गयीं, महर्षिने जल पीकर पूछा कि यह दिव्य स्वादिष्ट जल कहाँ मिला। सारा वृत्तान्त सुनकर महर्षिने आकर कुण्ड और गङ्गाजीका दर्शन पाकर प्रणाम और स्तुति करके प्रार्थना की कि अब आप यहाँसे न जायँ। गङ्गाजीने कहा कि तुम अपने एक वर्षकी शंकर और पार्वतीकी सेवाका फल हमें दे दो तो हम यहाँ रह जायँ। ऐसा किया गया और गङ्गाजी वहाँ रह गयीं। यह केवल एक वर्षके तपका प्रभाव है। (शिवपुराण चतुर्थ कोटि रुद्रसंहिता)

**सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥ ६॥**
**अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन कसहीं॥ ७॥**
**चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू॥ ८॥**
**दो०—चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ।**
**आइ नहाये सरित बर सिय समेत दोउ भाइ॥ १३२॥**

शब्दार्थ—**पातक**=पाप; कर्त्ताको नीचे ढकेलनेवाला कर्म। 'प्रायश्चित्त' के मतानुसार पातकके नौ भेद हैं—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर और प्रकीर्णक। पोतक (सं० पोत)=पशु-पक्षी आदिका छोटा बच्चा=वह गर्भस्थ पिंड जिसपर झिल्ली न चढ़ी हो,=बालक। **डाकिनी**=डाइन।=वह टोनहाई स्त्री जिसकी दृष्टिमात्रके पड़नेसे बच्चे एवं गर्भस्थ बालक मर जाते हैं। (टिप्पणीमें भी देखिये।) **कसहीं**—(सं० कषण=कष्ट देना) कसना=क्लेश पहुँचाना, कष्ट देना। यथा—'*भरत भवन बसि तप तन कसहीं।*' गौरव=बड़ाई, प्रतिष्ठा, बड़प्पन।

अर्थ—यह गङ्गाकी एक धारा है, इसका नाम मन्दाकिनी है, जो सब पापरूपी बालकोंको खा डालनेके लिये डाइन (सी) है अर्थात् इसके दर्शन और इसमें स्नानसे जरा-सा भी पाप नहीं रह जाता॥ ६॥ अत्रि आदि बहुत-से मुनिश्रेष्ठ वहाँ बसते हैं। जो योग और जप-तप करते हैं और तपस्यासे अपने शरीरको कसते हैं॥ ७॥ हे राम! चलिये सबके परिश्रमको सफल कीजिये और इस गिरिश्रेष्ठको भी गौरव दीजिये॥ ८॥ महामुनि बालमीकिजीने चित्रकूटकी असीम महिमा बखानकर कही तब सीतासहित दोनों भाई यहाँ आकर श्रेष्ठ नदी मंदाकिनीजीमें स्नान किया॥ १३२॥

टिप्पणी—१ (क) *'सब पातक पोतक डाकिनि'* इति। *'सब पातक'* अर्थात् गोहत्या, ब्रह्महत्या, मातृ-पितृ-वध-हत्या इत्यादि सभी पापोंका नाश हो जाता है। बालककी उपमा देनेका भाव कि नये पैदा हुए बच्चोंके मारनेमें परिश्रम नहीं होता। मन्दाकिनीजी इन समस्त उग्र पापोंको ऐसे नाश कर डालती हैं जैसे डाइन बच्चेको, पापरूपी बालकको बढ़ने नहीं देती। [पाप मन, कर्म और वचन तीनोंसे होते हैं। यथा—*'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥'* (१६७। ७), *'मन क्रम बचन जनित अघ जाई।'* (७। १२६) परद्रव्यका चिन्तन, किसीका अनिष्ट सोचना और झूठा अभिमान मानसिक पाप हैं। चोरी, अविहित हिंसा और परस्त्रीसेवन कायिक पाप हैं। कठोर, झूठे चुगली और भेदनशील, फूट डालनेवाले तथा अव्यवस्थित वचन वाचिक पाप हैं।' (विशेष १। ३५। १०) *'त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन'* में देखिये। शिवपुराण उमासंहिता अ० ५ में मन, कर्म और वचनके बारह पाप कहे गये हैं यथा—'**परस्त्रीद्रव्यसंकल्पश्चेतसानिष्टचिन्तनम्। अकार्याभिनिवेशश्च चतुर्धा कर्म मानसम्॥**' (३) '**अविबद्ध-प्रलापत्वमसत्यं चाप्रियं च यत्। परोक्षतश्च पैशुन्यं चतुर्धा कर्म वाचिकम्॥ (४) अभक्ष्याभक्षणं हिंसा मिथ्याकार्यनिवेशनम्। परस्वानामुपादानं चतुर्धा कर्मकायिकम्॥**' अर्थात् परस्त्री, परद्रव्यका संकल्प, मनसे दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन, अकार्यमें आसक्ति—ये चार कर्म मनके पाप हैं। असम्बद्ध प्रलाप, असत्य अप्रिय बोलना, पीछे चुगली करना—ये चार वाचिक हैं। अभक्ष्य-भक्षण, हिंसा, मिथ्या कर्म करना और पराये द्रव्यादिका हरण करना कायिक पाप है। *'सब पातक'* से उपर्युक्त पापके सभी भेदों तथा सभी प्रकारोंका नाश कहा।]

नोट—१ *'चलहु'* से जनाया कि वाल्मीकिजी वहाँतक साथ गये। यथा—'**आगच्छ राम भद्रं ते स्थलं वै दर्शयाम्यहम्।**' (८८) (आइये मैं आपको रहनेका स्थान दिखाता हूँ), '**एवमुक्त्वा मुनिः श्रीमाँल्लक्ष्मणेन समन्वितः। शिष्यैः परिवृतो गत्वा मध्ये पर्वतगङ्गयोः॥**' (अ० रा० २। ६। ८९) (अर्थात् ऐसा कहकर शिष्योंसे घिरे हुए श्रीमान् मुनिवर लक्ष्मणके सहित गङ्गा और पर्वतके बीचके स्थलमें जाकर)। (ख) *'सफल श्रम सब कर करहू'* इति। भाव कि सब ऋषियोंको जो यहाँ तपस्या कर रहे हैं, दर्शन दीजिये। श्रीसीतारामलक्ष्मणजीके दर्शनसे समस्त साधन सफल होते हैं, क्योंकि इसीलिये साधन किये जाते हैं। यथा—'*आजु सुफल तपु*

*तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥' 'सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू॥'* (१०७।५-६)।', *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०। ४) (ग) *'राम देहु गौरव गिरिबरहू'* इति। श्रीरामजीके सम्बन्धसे, उनके देनेसे ही सबकी बड़ाई होती है। यथा—*'नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥'* (१९५।१)।', *'सकल बड़ाई सब कहाँ ते लहत।'* (वि० २५६) *'जो बड़ होत सो राम बड़ाई।'* अत: वहाँ निवास करके चित्रकूटको गौरव देनेको कहा। उसे गौरव दिया भी, यथा—*'थप्यो थिर प्रभाउ जानकीनाँह।'* (वि० २३) *'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेते'''श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई।'* (१३८।६—८)

नोट—२ 'चित्रकूट महिमा' इति। विनय और गीतावलीमें भी कविने महिमा कही है—*'सब सोच बिमोचन चित्रकूट। कलि हरन करन कल्यान-बूट॥' ( १ ) 'सुचि अवनि सुहावनि आलबाल। कानन बिचित्र बारी बिसाल॥ २॥ मंदाकिनि मालिनि सदा सींच। बरबारि बिषम नर नारि नीच॥ ३॥ साखा सुशृंग भूरुह सुपात। निर्झर मधु बर मृदु मलय बात॥ ४॥ सुक पिक मधुकर मुनिबर बिहारु। साधन प्रसून फल चारि चारु॥ ५॥ भव-घोरघामहर सुखद छाँह। थप्यो थिर प्रभाउ जानकी नाँह॥ ६॥' साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ॥ ७॥ रस एक रहित गुन कर्म काल। सियरामलषन पालक कृपाल॥८॥ तुलसी जो रामपद चाहिय प्रेम। सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम॥'* (९)(वि० २३) *' अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।''जहँ जनमे जगजनक जगत्पति बिधि-हरिहर परिहरि प्रपंच छलु। सकृत प्रबेस करत जेहि आश्रम बिगत बिषाद भये पारथ नलु॥ ३॥''कामदमनि कामता कल्पतरु सो युग-युग जागत जगतीतल।'' '* (वि० २४)*'चित्रकूट अति बिचित्र सुंदर बन महि पवित्र, पावन पय सरित सकल मल निकंदिनी॥'* (गी० २। ४३) **'यावता चित्रकूटस्य नर: शृङ्गाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मन:॥** (वाल्मी० २। ५४। ३०) (श्रीभरद्वाजजीने श्रीरामजीसे कहा है कि जहाँसे मनुष्य चित्रकूटके शिखर देखता है, वहींसे उसका मन पुण्यकर्ममें लग जाता है, पापकी ओर उसका मन नहीं जाता)।

प० प० प्र०—*'चित्रकूट महिमा''आइ नहाए'* । इति। महामुनिने चित्रकूटकी महिमा गायी इतना कहकर *'आइ नहाए'* कहते हैं। मुनिको प्रणाम करना, विदा माँगना आदि नहीं कहा। इसका भाव *'आइ'* शब्दके आधारसे प्रकट होता है कि कवि तबतक वाल्मीकि-आश्रममें थे जबतक महामुनि चित्रकूटका माहात्म्य कहते रहे। तत्काल उनका चित्त वहाँसे निकलकर चित्रकूटमें भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करता रहा। भगवान्‌को आते देखा अत: कहा कि *'आइ नहाए'* कविका चित्त चित्रकूटमें होनेसे उसने प्रणाम आदि करते देखा नहीं, इसीसे नहीं लिखा। नहीं तो अन्यत्र प्रणाम और चलना आदि कहा है। यथा—*'चले राम लछिमन मुनि संगा। गए जहाँ जगपावनि गंगा॥' 'मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहि सुर नर मुनि ईसा॥' 'चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहिं पंचबटी निअराई॥'*

नोट-मुनिने कहा कि *'चलहु सफल श्रम सबकर करहू'* इससे अनुमान होता है कि यह कहते ही मुनिके साथ श्रीरामजी चल दिये। मार्गमें चित्रकूट-माहात्म्य कहते हुए चित्रकूट आ गये। अत: प्रणाम और विदा माँगनेकी आवश्यकता न पड़ी। अ० रा० में मुनिका साथ जाना कहा ही है। वहाँ भी प्रणाम और विदाई नहीं कही है। वैसे ही तुलसीदासजीने भी कहा। वाल्मी० २। ५६ में लिखा है कि मुनिके समीप पहुँचनेपर उन्होंने उनका स्वागत किया—'**आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च।**' (१७) (अर्थात् बैठिये, आप लोगोंका स्वागत है)। तदनन्तर मुनिके सामने ही लक्ष्मणजीको श्रीरघुनाथजीने आश्रम बनानेकी आज्ञा दी। वहाँ भी वाल्मीकिजीसे विदा होना नहीं कहा गया है। वैसे ही यहाँ 'मानस' में भी नहीं कहा गया।

प० प० प्र०—वाल्मीकिकृत स्तुति आठवीं स्तुति है। और पुष्य नक्षत्र आठवाँ नक्षत्र है। अत: यह स्तुति 'पुष्य नक्षत्र' है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) '**पुष्णाति कार्याणि इति पुष्य:**। कार्यका पोषण

करनेवाला होनेसे पुष्य, सिध्य, तिष्य नाम है। इस स्तुतिके कारण अत्रि आदि महर्षियोंको सन्तोष मिला, कामदमणिकी महिमा बढ़ी। (२) पुष्य सब नक्षत्रोंसे बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ है। वैसे ही यह स्तुति सबसे बड़ी है। मुनिने कुछ माँगा नहीं, वरन्, श्रीरामजीको ही आज्ञा दी कि किस स्थानमें रहें। पुष्यमें तिथि आदिके देखनेकी आवश्यकता नहीं, कोई दोष बाधा नहीं कर सकते। मुनिने ऐसा स्थान बताया जहाँ कुछ भी बाधा न हुई। (३) पुष्यमें तीन तारे हैं। राम-लक्ष्मण-सीता भी तीन हैं। (४) पुष्यका आकार बाण-सा है। इस स्तुतिमें श्रीराम, लक्ष्मण, जानकीजीके तात्त्विक स्वरूपका भेद लक्ष्य भेद मुनिवचनोंसे हुआ है। (५) नक्षत्रका देवता वाक्पति है। इस स्तुतिके मुख्य देवता श्रीरामजी हैं जो 'गिरापति' हैं। वाल्मीकि भी वाक्पटु-संभाषण-कुशल हैं। (६) स्तुतिकी फलश्रुति है। *'समन पाप संताप सोक के।'* (१। ३२। ५) स्तुतिमें *'भक्त उर चंदन'*, *'रघुनंदन'*, *'बिगत बिकार'*, *'बुध होहिं सुखारे'*, *'पातक पोतक डाकिनि'* आदि वचन फलश्रुतिके अनुकूल हैं।

वाल्मीकि-प्रभु-मिलन-प्रकरण समाप्त हुआ।

## 'चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण

**रघुबर कहेउ लषन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥१॥**
**लषन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥२॥**
**नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥३॥**
**चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥४॥**
**अस कहि लषन ठाउँ देखरावा। थलु बिलोकि रघुबर सुख पावा॥५॥**

शब्दार्थ—**ठाहर**=रहने या टिकनेका स्थान। **ठाटू**=डौल, तजबीज, उपाय, प्रबन्ध। **करहु ठाहर ठाटू**=ठहरनेका ठाट करो; ठहरनेकी जगह तजबीज करो। **नारा**=नाला। **अहेरी**=शिकारी। **साउज**=निशाना। **करारा**=ऊँचा किनारा (जैसा प्रायः नदीके जलसे कटनेसे बन जाता है)। **पनच**=रोदा, प्रत्यञ्चा, धनुषकी डोरी। **मुठभेरी**=मुठभेड़ी=भिड़कर पाससे मुक्का मारना।

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा कि घाट अच्छा है, अब कहीं ठहरनेका प्रबन्ध करो॥१॥ तब श्रीलक्ष्मणजीने पयस्विनी नदीके उत्तर तटको देखा कि एक नाला धनुषकी तरह चारों ओर फिरा हुआ है॥२॥ नदी रोदा वा प्रत्यञ्चारूप है, शम-दम-दान बाण हैं। कलिके समस्त पाप अनेक निशाने हैं॥३॥ चित्रकूट ही मानो अचल शिकारी है, जिसकी मुठभेरीकी मार-घात नहीं चूकती॥४॥ ऐसा कहकर लक्ष्मणजीने स्थान दिखाया। स्थल देखकर रघुवरने सुख पाया॥५॥

नोट—१ *'पय उतर'''* इति। दक्षिणसे मन्दाकिनी आयी और कामदगिरिकी मूलसे पयस्विनी। दोनोंका संगम जहाँ हुआ वह राघोप्रयाग कहलाता है। वहींपर पर्णशाला बनायी गयी। (वै०)

नोट—२ यहाँ चित्रकूटका शिकारीसे रूपक बाँधा है। चित्रकूट अहेरी, नाला, धनुष, नदी-प्रत्यञ्चा, शम-दम-दान-बाण, सकल-कलि-कलुष अनेक निशाने, परस्पर उपमेय-उपमान हैं। कवितावलीमें भी ऐसा ही रूपक है। उससे पाठक मिलान करें। यथा—*'मोह बन कलिमल पल पीन जानि जिय साधु गाय बिप्रनके भयको नेवारिहैं। दीन्ही है रजाइ राम पाइ सो सहाइ लाल लषन समर्थ बीर हेरिहेरि मारिहैं॥ मंदाकिनी मंजुल कमान असि बान जहाँ बारिधार धरि धरि सुकर सुधारिहैं। चित्रकूट अचल अहेरी बैठ्यो घात मानो पातकके ब्रात घोर सावज सँहारिहैं॥'* (७। १२४)

टिप्पणी—१ (क) *'चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।'* इति। धनुषपर रोदा चढ़ाकर जब वह कान-पर्यन्त ताना जाता है तो वह मण्डलाकार हो जाता है। उसी प्रकार यह नाला गोलाकार चारों ओर फिरा हुआ है। दोनों गोशे मिले हुए हैं। धनुषपर रोदा चाहिये, जिसपर बाण लगाकर चलाये जाते हैं। यहाँ

नदी (अर्थात् उसकी जलधारा) ही रोदा है, जिसपर बाण चलते हैं (इसमें त्रिकाल-स्नान आदि करते हैं)। शमदमदान बाण हैं। बाणसे हिंसक जीवों पशु-पक्षियोंपर निशाना किया जाता है। यहाँ कलिके समस्त छोटे-बड़े पाप—*'जे पातक उपपातक अहहीं। मन बच कर्म जनित कबि कहहीं॥'* ही निशानेवाले पशु हैं जिनका नाश किया जाता है। [अथवा, कलिके पाप और कलि दोनों इसके निशाना हैं। यह कार्य और कारण दोनोंका घातक है। कारण न रहेगा तो फिर कार्य उत्पन्न ही न होगा। (वै०) (ख)—कलिके पापोंको यहाँ निशाना कहा और युगोंके पापोंको नहीं। कारण कि *'कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जनमन मीना॥'* और अन्य युगोंके पाप बहुत सूक्ष्म हैं, उनमें इसकी अपेक्षा पाप प्रायः बहुत कम होते हैं। कलिकलुषकी उपमा देकर जना दिया कि जब ऐसे घोर कलिके पापोंको वह नष्ट कर देता है तो और युगोंके पाप किस गिनतीमें हैं। वे तो अबल निशाने हैं। कलिके पापोंकी सीमा नहीं—ये सब मानो बाराह, सिंह आदि सबल निशाने हैं, जो शिकारीपर चोट करते हैं अर्थात् तीर्थमें भी बाधक होते हैं। (वै०)]

नोट—३ *'अचल अहेरी'*—शिकारी थक भी जाते हैं पर यह अचल है, कभी नहीं थकता। पुनः, जो शिकारी चलते-फिरते शिकार करते हैं उन्हींपर व्याघ्र आदि चोट करते हैं, इसीसे *'अचल'* पद दिया। *'अचल'* शिकारी वे हैं जो ऐसी जगह ताककर बैठते हैं जहाँसे नित्य ये शिकार पानी पीने इत्यादिके लिये निकलते या बैठते हैं। कहीं-कहीं जमीन खोदकर ऊपरसे लोहेका पुष्ट खाँचा बाँधकर उसके अन्दर शिकारी बैठते हैं कि समीपसे निशानेपर वार करें। पुनः, और साधारण तीर्थ चलते शिकारी हैं क्योंकि वहाँ शम-दम-दान-रूपी बाण स्त्रीकटाक्ष आदिसे चूक जाते हैं और यह अचल शिकारी है। यहाँ वन, पहाड़, उदासीन भूमिका है; उदासीन होनेसे मन आदि इन्द्रियाँ चलायमान नहीं होतीं। *'मुठभेरी'*=अति समीपसे। (वै०)

प्रश्न—पूर्व पापोंका नाश मन्दाकिनीद्वारा जो कहा गया वहाँ *'जो सब पातक पोतक डाकिनि'* ऐसा रूपक दिया गया और यहाँ *'चूक न घात मार मुठभेरी'* कहा। प्रथममें पापको बालक और दूसरेमें पशुको निशानासे उपमा दी। दो प्रकारका रूपक देनेका क्या भाव है?

उत्तर—१ शिकारी दूरसे घात करता है और बालक घरके भीतर होते हैं। बाहरके दर्शन करनेवालोंके पापोंको शिकारी बनकर और घरके भीतरवालोंके (अर्थात् चित्रकूटके निवासियोंके) पापोंको डाकिनी बनकर मार डालता है। पुनः, २—मन्दाकिनीका जल पान करनेसे मानसिक पाप दूर होते हैं और चित्रकूटमें निवाससे कायिक पाप दूर होते हैं। इसलिये पापको पोतक और मन्दाकिनीको डाकिनीसे उपमा दी गयी है। मन्दाकिनीका पवित्र जल शरीरको प्राप्त होनेसे मानसिक (भीतरी) पाप दूर होते हैं, पर मन्दाकिनी किसीको निरन्तर प्राप्त नहीं है, जैसे बालक निरन्तर डाकिनीको प्राप्त नहीं, माता-पिता रक्षा करते रहते हैं। चित्रकूटवासकी निरन्तर प्राप्ति सम्भव है। इसीसे *'सकल कलुष', 'कायिक पाप'* वह बराबर नाश करते रहनेमें नहीं चूकता। यह कलुष पशुकी तरह बाहर खुले मैदानमें भ्रमण करते हैं, अर्थात् शारीरिक पाप छिप नहीं सकते। ऐसे कलुषोंको यह बराबर नष्ट करता रहता है।

**रमेउ राम मनु देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना॥६॥**
**कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥७॥**
**बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥८॥**
**दो०—लषन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।**
**सोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत॥१३३॥**

शब्दार्थ—रमना=लगना, अनुरक्त होना, यथा—*'जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।'* (१।८०) सुर थपति=देवताओंके थवई। ☞थपति शब्द 'स्थपति' का ही प्राकृत रूप है। स्थपति=कारीगर। अतः

सुर-थपति-प्रधान=देव करीगरका प्रधान=विश्वकर्मा। (वि० त्रि०) वा, थपति=स्थपति=त्वष्टा। रचनाके कार्यमें मुख्य त्वष्टा हैं; उनको प्रधान मुख्य नायक बनाकर। (प० प० प्र०)

अर्थ—जब देवताओंने जाना कि श्रीरामजीका मन यहाँ रम गया (लग गया) तब वे देवताओंके प्रधान कारीगरको अगुआ करके चले॥ ६॥ वे सब कोल-भीलोंके वेषमें आये तथा पत्तों और तृणके सुन्दर घर रचकर बनाये॥ ७॥ सुन्दर दो निवासस्थान बनाये जो वर्णन नहीं किये जा सकते; एक सुन्दर छोटा और दूसरा बड़ा लम्बा-चौड़ा और ऊँचा॥ ८॥ श्रीलक्ष्मण-जानकीजीसमेत सुन्दर पर्णकुटी (घर) में प्रभु विराजमान ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, मानो कामदेव मुनि-वेष धारणकर रति (कामदेवकी स्त्री) और वसन्तसमेत सोह रहा है॥ १३३॥

नोट—१ *'रमेउ राम मनु'* इति। (क) श्रीरामजी यहाँ रमण करेंगे अतः *'राम'* शब्द *'रमेउ'* क्रियाके साथ दिया। 'राम' का अर्थ है जो सबमें रमण करे। **रमु क्रीडायाम्** (पु० रा० कु०)। जब देवताओंने जान लिया कि जिस स्थानको वाल्मीकिजीने बतलाया था, वह सरकारको पसंद आ गया तो विश्वकर्माको साथ लेकर कोलकिरातके वेषमें वे लोग आये और तुरंत जैसा सरकार चाहते थे कि *'तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करउँ कछु काल कृपाला॥'* वैसा ही सुन्दर पर्णतृणशाला बना दिया। जो देखे वह समझे कि कोल-किरात सरकारकी सेवामें लगे हुए हैं, पर वस्तुतः वे विश्वकर्मादि देवता थे। सरकारके ऐश्वर्यको छिपाये रखनेके लिये उन लोगोंने ऐसा किया। (वि० त्रि०) स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि स्थपतियोंमें मुख्य त्वष्टा हैं। उनको मुख्य नायक बनाकर चले, उनके आदेशानुसार रचना होगी। जैसे नल-नीलने सेतु बनाया। वैसे ही रचनाका काम त्वष्टा ही करेंगे, अन्य सब सामग्री ला-लाकर देंगे। नल-नील भी त्वष्टाके ही पुत्र हैं।

टिप्पणी—१ देवता कोल-भीलके वेषमें क्यों आये? उत्तर—(१) जो काम करना है उसीके योग्य शरीर धारण किया। पर्णकुटी बनाना है, इस कार्यको वहाँकि कोल-भील करते हैं। अतः उस वेशसे आकर पर्णकुटी छायी। देवरूपसे आते तो रामजी कुटी न बनाने देते, उनका गुप्त ऐश्वर्य खुल जाता और अभी रावण-वध होना है। (२) स्वामी क्षत्रिय बने तो ये सेवाके लिये कोल-भील बने (३) देवता भूमिको स्पर्श नहीं करते, इससे इस वेषमें आये।

नोट—२ *'सुहाए'* से जनाया कि उसकी बनावट बहुत सुन्दर और विचित्र थी। वर्षा और आँधी सहने योग्य थे। जाड़ेमें हवा आदिकी रोक भी थी और उत्तम स्थानपर बने थे। कामदेवकी विहार-बाटिका ही मानो थी। यथा—*'सब रितु रितुपति प्रभाव संतत बह त्रिबिध बाउ जनु बिहार बाटिका नृप पंचबानकी।'* (गी०)

नोट—३ *'एक ललित लघु एक बिसाला'* इति। एक सुन्दर और छोटा है, दूसरा बड़ा है। दूसरा बड़ा इस विचारसे बनाया गया कि यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण-सीता और मुनि लोग बैठेंगे। (पु० रा० कु०)

पंजाबीजी—दो पर्णशालाएँ बनायीं; एक श्रीसीतारामजीके लिये और दूसरी लक्ष्मणजीके लिये। अथवा, वनमें लक्ष्मणजीका निवास अलग कहना उचित नहीं, इसलिये छोटी पर्णशाला भण्डार, भोजन आदिके लिये जान पड़ती है और दूसरी तीनोंके निवासके लिये। यह बात दोहेसे भी पुष्ट होती है 'निकेत' एकवचन है, दूसरे उसमें *'लखन जानकी सहित'* ये शब्द भी हैं। दोनोंसे एकहीमें निवास करना सूचित होता है। (यहाँ एकवचन और बहुवचन दोनों ही अर्थ आवश्यकतानुसार हो सकते हैं और दोनों अर्थ समीचीन हैं)।

नोट—४ **'गत्वा मध्ये पर्वतगङ्गयोः॥ ८९॥ तत्र शालां सुविस्तीर्णां कारयामास वासभूः। प्राक्पश्चिमं दक्षिणोदक् शोभनं मन्दिरद्वयम्॥ ९०॥ जानक्या सहितो रामो लक्ष्मणेन समन्वितः। तत्र ते देवसदृशा ह्यवसन् भवनोत्तमे॥ ९१॥ वाल्मीकिना तत्र सुपूजितोऽयं रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन। देवैर्मुनीन्द्रैः सहितो मुदास्ते स्वर्गे यथा देवपतिः सशच्या॥ ९२॥'** अध्यात्मरामायण सर्ग ६ के इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि वाल्मीकिजीके बताये हुए स्थानमें एक बड़ी विस्तृत कुटी पश्चिममें (पूर्वमुख) और एक कुटी दक्षिणमें (उत्तरमुख) बनायी गयी। सीता-लक्ष्मण-सहित देवसदृश उस उत्तम भवनमें रहते थे। जैसे शचीसहित इन्द्र स्वर्गमें देवता और

मुनिश्रेष्ठोंसहित आनन्दपूर्वक रहते हैं वैसे ही वाल्मीकि आदि ऋषियोंसे पूजित रामजी सीतालक्ष्मणसहित कुटीमें रहते थे। देखिये, श्लोक ९२ को गोस्वामिपादके दोहे १४१ से मिलाइये, किसमें उत्कृष्टता है? *'शची जयंत समेत'* में या केवल *'सशच्या'* में!

नोट—५ *'लषन जानकी सहित'''* इति। भाव यह है कि मुनिवेष जटाजूट, वल्कल आदि धारण किये हुए भी वे अपनी माधुरीसे सबके मनको हर रहे हैं। जैसे कामदेव अपने सहायकोंसहित संसारको मोहित कर लेता है। यहाँ शृङ्गाररस और कामदेव श्यामवर्ण और रामजी भी श्यामवर्ण, रति गौरवर्ण वैसे ही सीताजी गौर, वसन्त पीत वैसे ही लक्ष्मणजी स्वर्णवर्णके। प्रभु जटा धारण किये हैं; अतः कामदेवका भी मुनिवेषमें होना कहा। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि काम विकारयुक्त है, मुनिवेष धरकर सोहना कहनेका भाव कि विकारको त्यागकर सोह रहा है।

**अमर नाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥ १॥**
**राम प्रनामु कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू॥ २॥**
**बरषि सुमन कह देव समाजू। नाथ सनाथ भए हम आजू॥ ३॥**
**करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए॥ ४॥**
**चित्रकूट रघुनंदन छाए। समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥ ५॥**

अर्थ—देवता, नाग, किन्नर, दिक्पाल उस समय चित्रकूट आये॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने सबको प्रणाम किया। देवता नेत्रोंका लाभ पाकर आनन्दित हुए॥ २॥ फूल बरसाकर देवसमाज कह रहा है कि 'हे नाथ! आज हम सनाथ हुए। अर्थात् अभीतक ऐसा जान पड़ता था कि हमारा कोई नाथ या रक्षक नहीं है, हम अनाथ थे, आप हमारे ही लिये अवध छोड़कर वनमें आये, इससे हमको निश्चय हुआ कि अब रावणवध होगा, हमारी उससे रक्षा करनेके लिये ही आप यहाँ आये, अतएव अब हम सनाथ हुए॥ ३॥ विनय करके उन्होंने अपने न सहे जानेवाले कठिन दुःख कह सुनाये। फिर प्रसन्न होकर खुशी-खुशी अपने-अपने घर चल दिये॥ ४॥ श्रीरघुनाथजी चित्रकूटमें छाकर रहे (पर्णकुटी बनाकर रह रहे हैं)। यह खबर सुन-सुनकर मुनि आये॥ ५॥

नोट—१ *'अमर नाग''आए'* इति।—देवताओंका तो एक बार आना ऊपर अभी-अभी कह आये, यथा—*'रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना'* उनका जाना कहा नहीं गया तो यहाँ दुबारा उनका आना कैसे लिखा गया? यह प्रश्न उठाकर पंजाबीजी यह उत्तर देते हैं कि पहले इन्द्रादि प्रधान देवताओंका कोल-किरात वेषसे आना कहा गया, जिनको रावणका बड़ा डर था और अब लघु देवताओंका आना कहा। अथवा, कुटी छानेमें सेवायोग्य शरीर धरकर आये और अब विमानपर फूल बरसाने और अपना दुखड़ा सुनानेके लिये प्रत्यक्षरूपसे आये। अथवा रावणके भयसे भीलरूप धरा, दर्शन पाकर अभय हुए तब अथवा प्रेममें कपट-वेश दूर हो गया तब प्रकट हो गये।

पंजाबीजीका पाठ *'सुरपति परधाना'* है। इसीसे उन्होंने यह समाधान किया है। *'सुर थपति प्रधाना'* पाठमें यह शंका ही नहीं उठती। क्योंकि प्रथम वे देवता आये जो स्थापत्यकारमें—रचनाकी कलामें प्रवीण थे वे ही अपने प्रधानसहित आये। जब पर्णशालाएँ बन गयीं और तीनों मूर्ति वहाँ निवास करने लगे तब शेष सब देवता आये।

नोट—२ अमर, नाग, किन्नर, दिक्पाल—ये सब आये, क्योंकि रावणसे सब सताये हुए हैं, यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहीके पंथहि लागा॥'* (१। १८२) *'दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।'* (६। २८)

नोट—३ (क) *'राम प्रनाम कीन्ह'* इति। श्रीरामचन्द्रजीने सबको प्रणाम किया पर इन्होंने आशीर्वाद न दिया। इसका कारण यह है कि श्रीरामजीने माधुर्यमें उनको प्रणाम किया, वे इस माधुर्य-लीलाको देखकर 'मुदित' हुए; पर वे तो इनको अपना नाथ समझकर इनकी सेवा करने और अपना दुःख सुनाने

आये हैं तो फिर आशीर्वाद कैसे देते? *'नाथ सनाथ भए हम आजू'* और *'दुख दुसह सुनाए'* इन विनम्र शब्दोंके साथ अपनेको बड़ा मानकर आशीर्वाद देना योग्य नहीं जँचता। कविने यह दिखानेके लिये कि इन्द्रादि देवता ऐश्वर्य जानते हैं, यहाँ 'राम' शब्द दिया जो ऐश्वर्यसूचक है। मुनियोंको दंडवत् करनेमें 'रघुकुलचंद' कहा, क्योंकि वे माधुर्यभाव ग्रहण किये हुए आशीर्वाद देंगे। (ख) *'मुदित देव लहि लोचन लाहू'*—दर्शन करके मुदित हुए। विवाहके समय दूलहरूपमें देखकर मुदित हुए थे, यथा—*'मुदित देवगन रामहि देखी।'* (१। ३१७) पर दूरसे देखा था, आज सामने आकर दर्शन कर रहे हैं, इससे नेत्रोंका लाभ पाना कहा। भगवान्‌का दर्शन ही नेत्रका लाभ है यह बारंबार कहा जा चुका है। पर देवता तो स्वार्थी हैं, दोनों जगह स्वार्थ सधता देखकर आये थे। (ग) *'बरषि सुमन''''* इति। प्रथम पर्णशालाएँ 'रची' फिर समीप आकर 'वहाँ एकान्तमें दर्शन किया, पुष्पवृष्टि की, तब विनती की, अन्तमें अपना दुखड़ा सुनाया। *'दुख दुसह'* यह कि घर रहने नहीं पाते, उर्वशी आदि अप्सराओं और पुष्पकादि सुन्दर विमानोंको तथा सब सम्पत्ति रावण छीन ले गया, यज्ञभाग नहीं मिलता, इत्यादि। यथा—*'आवत रावन सुनेउ सकोहा। देवन तके मेरु गिरि खोहा'*, *'सुरपुर नितहि परावन होई॥ पुष्पक जान जीति लै आवा'* (१। १७९) इत्यादि। (घ) *'सनाथ भए'* का एक भाव अर्थमें दिया गया। दूसरा भाव यह है कि ऋषि अब निर्भय होकर यज्ञ करेंगे। हम यज्ञमें अपना भाग पाकर तृप्त होंगे। अथवा कैकेयीकी मति फेरनेमें हमें डर था कि आपको दुःख न हुआ हो, आप अप्रसन्न न हों वह चिन्ता मिट गयी। (ङ) *'हरषित निज निज सदन सिधाए।'* इति। इससे जान पड़ता है कि प्रभुने उनको ढारस दिया, इसीसे वे अपने घरको प्रसन्न-प्रसन्न गये, अभीतक भागे-भागे फिरते रहे।

(ङ) *'चित्रकूट रघुनंदन छाये'* इति।—(क) *'छाये'* से जनाया कि यहाँ कुछ दिन निवास करेंगे, अभीतक पथगामी रहे, एक रातसे कहीं अधिक ठहरते न थे, कुछ ठीक न था कि आज यहाँ हैं, कल कहाँ होंगे। अब कुटी छावनी छाकर रहे हैं, इसीसे मुनि अब आ रहे हैं। छाये, यथा—*'बर्षाकाल मेघ नभ छाये'* (ख) *'सुनि सुनि'* अर्थात् जैसे-जैसे जो-जो सुनते थे वे आते-जाते थे। एक साथ सबको समाचार नहीं मिला।

**आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल चंदा॥६॥**
**मुनि रघुबरहि लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं॥७॥**
**सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥८॥**
**दो०—जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किए मुनिबृंद।**
**करहिं जोग जप जाग तप निज आश्रमन्हि सुछंद॥१३४॥**

शब्दार्थ—**सुछंद**=(स्वच्छन्द) स्वतन्त्र, आजाद।

अर्थ—मुनियोंके वृन्द-के-वृन्द (झुंड, समूह) को प्रसन्नमुख आते देख रघुकुलके चन्द्र श्रीरामजीने (साष्टाङ्ग) दण्डवत् प्रणाम किया॥६॥ मुनि समूह रघुवरको हृदयसे लगा लेते हैं और (अपने आशीर्वादोंके) सुफल होने (अर्थात् सफलताके लिये) आशीर्वाद दे रहे हैं॥७॥ वे श्रीसीताजी, श्रीसुमित्राजीके पुत्र लक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजीकी छबि देखते हैं और अपने सब साधनोंको सफल करके मानते हैं॥८॥ प्रभुने मुनिवृन्दका यथायोग्य सम्मान करके उनको बिदा किया। वे अपने-अपने आश्रमोंमें स्वतन्त्रतासे योग, जप, यज्ञ, तप करने लगे॥१३४॥

नोट—१ मुनियोंको दण्डवत् करनेसे रघुकुलकी मर्यादा-प्रतिष्ठाकी रक्षा तथा कुलको प्रकाशित कर रहे हैं, अतः *'रघुकुलचंद'* कहा। रघुवंशी सदा मुनियोंको दण्डवत् प्रणाम करते आये हैं। *'सुफल होन हित आसिष देहीं'* इति। इसी तरह गङ्गाजीने श्रीजानकीजीसे कहा है। यथा—*'तदपि देबि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥'* (१०३। ८)

नोट—२ *'साधन सकल सफल करि लेखहिं'* इति। वाल्मीकिजीने जो रघुनाथजीसे कहा था—*'चलउ सफल श्रम सब कर करहू'* उन वचनोंको एवं प्रभुके *'मुनिगन मिलन बिसेषि बन'* इस वाक्यको यहाँ चरितार्थ किया है। सब साधनोंका फल श्रीरामदर्शन वा श्रीरामभक्ति है। यथा—*'दीन्ह मुनीस असीस उर अति अनंदु अस जानि। लोचन गोचर सुकृत फल मनहुँ किए बिधि आनि॥* '(१०६) *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०।४), *'आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुतन्ह सहित दसरथि देखिहौं"*। *'रामचन्द्र मुखचंद्र सुधा छबि नयन चकोरनि प्याइहौं।'* (गी० १।४८)

नोट—३ *'जथाजोग"'* इति। जो जिस योग्य था वैसा उसका सम्मान किया। अथवा, जैसा समय था उसके अनुकूल जो सत्कार हो सकता था वह किया, समीचीन मान देकर और कहकर कि आप चिन्ता न करें विदा किया। 'सुछंद'-स्वतन्त्र होकर अपने-अपने आश्रममें यज्ञादि करने लगे। पहले रावणके भयसे अपने यहाँ न कर सकते थे, महर्षि अगस्त्य, महर्षि पर्वत आदिके आश्रमोंमें जाकर साधन करते थे, क्योंकि उनसे रावण डरता था और इनको सताता था, यथा—*'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै"।'* अब रघुबीर-बाहु-बलसे निर्भय और स्वतन्त्र हो गये। क्योंकि यह उनको मालूम है कि वे विश्वामित्रजीके यज्ञके रक्षक *'मारीच सुबाहु मद मोचन'* हैं और हमारी रक्षा करनेको कहते हैं।

**यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई॥ १॥**
**कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटनु सोना॥ २॥**
**तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहिं पूछहिं मगु जाता॥ ३॥**
**कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥ ४॥**
**करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे॥ ५॥**
**चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े॥ ६॥**

शब्दार्थ—**कोल**=ब्रह्मवैवर्त पु० में कोलको लेट पुरुष और तीवर स्त्रीसे उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति लिखा है। पद्मपु० में लिखा है कि जब यवन, पह्लव, कोल, सर्प आदि सगरके भयसे वसिष्ठजीकी शरण आये तब उन्होंने उनका सिर आदि मुड़ाकर उन्हें केवल संस्कार-भ्रष्ट कर दिया। स्कन्दपुराणके हिमवत्-खण्डमें 'कोल' को एक म्लेच्छ जाति कहा है जो हिमालयमें शिकार करती घूमती थी। हरिवंशमें कोल राज्यका नाम दक्षिणके पांड्य और केरलके साथ आया है। (श० सा०) *'नवनिधि'*, यथा—'**महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दः कुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥**" पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक, नील, शङ्ख और खर्व—ये नौ निधियाँ हैं। मार्कण्डेयपु० अ० ६५ में निधियाँ आठ ही कही गयी हैं। प्रत्येक निधिका अर्थ आदि विस्तारसे (१। २२०। २) *'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी'* में लिखा गया है, वहीं देखिये। **निकाई**=सौन्दर्य, सुन्दरता, यथा—*"गजमनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई।'* (गी०) *'सकल भुवन सोभा सरबसु लघु लागति निरखि निकाई।'* (गी० १। ५३) जोहार (सं० जुवन)=अभिवादन, प्रणाम। **चित्र लिखे**=तसबीरके समान।

अर्थ—कोल-भील यह खबर (कि रघुनाथजी चित्रकूटमें आकर बसे हैं) पाकर ऐसे प्रसन्न हुए मानो नवों निधियाँ घर (बैठे) आ गयीं॥ १॥ वे दोनोंमें कन्द-मूल-फल भर-भरकर चले मानो दरिद्र सोना लूटने चले जा रहे हैं॥ २॥ उनमेंसे जिन्होंने दोनों भाइयोंको देखा है उनसे और लोग रास्तेमें जाते हुए पूछते हैं॥ ३॥ रघुबीर श्रीरामजीकी सुन्दरता कहते-सुनते सबोंने आकर रघुनाथजीका दर्शन किया॥ ४॥ भेंट (कन्द-मूल-फल जो उनके लिये लाये थे) को आगे रखकर प्रणाम करते हैं और प्रभुको अत्यन्त प्रेमसे देख रहे हैं॥ ५॥ वे जहाँ-तहाँ ऐसे खड़े हैं मानो (वे नहीं हैं किंतु) तस्वीरें खींचकर खड़ी की गयी हैं (हिलते-डोलते नहीं)। शरीरके रोएँ खड़े हैं, नेत्रोंमें अश्रु-प्रवाहकी बाढ़ आ गयी है॥ ६॥

नोट—१ (क) *'ये उपही कोउ कुँवर अहेरी। स्याम गौर धनुबानतूनधर चित्रकूट अब आय रहे*

*री॥ इन्हहिं बहुत आदरत महामुनि समाचार मेरे नाह कहे री। बनिता बंधु समेत बसत बन पितुहित कठिन कलेस सहे री॥ बचन परसपर कहत किरातिनि प्रेम बिबस जल नयन बहे री। तुलसी प्रभुहि बिलोकति इकटक लोचन जनु बिनु पलक रहे री॥'* (गी० २। ४२। १—३) गीतावलीके इस उद्धरणसे यहाँकी चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। (ख) *'यह सुधि पाई'*—सुध किससे पायी? महामुनियोंको इनका अत्यन्त आदर-सम्मान करते देख उनसे पूछनेपर इन तीनोंका परिचय पाया। (ग) *'हरषे जनु नवनिधि घर आई'* इति। ऋषि-मुनि तपस्याके बलसे प्रभुके दर्शन पाते हैं; पर ये सब साधनहीन और नीच हैं, इन्हें दर्शनका सौभाग्य कहाँ? इनको प्रभुने स्वयं कृपा करके दर्शन दिया। विश्वामित्रजी अवध गये तब उनको यह निधि मिली थी—*'बिस्वामित्र महानिधि पाई'*—वही निधि इनको घर बैठे प्राप्त हो गयी। वे दर्शनको इस तरह बेतहासा बेधड़क चले। कौड़ी-कौड़ीको जो कंगाल है ऐसा दरिद्र सुन पावे कि कहीं सोना लुट रहा है तो जैसे दौड़कर वह चले, वैसे ही ये चले।

नोट—२ (क) *'कंदमूल……'* इति। बड़े लोगोंसे मिलनेमें भेंटकी यह प्रथा इन असभ्य जातियोंमें भी थी। भेंट लेकर जाना चाहिये, यथा—*"लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरषु अपारा॥ करि दंडवत भेंट धरि आगे।'* (८८। २-३) *'भरि भरि दोना'* यथा—*'भरि भरि परनपुटी रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥"*(२५०। २-३) (ख) *'आइ सबन्हि देखे'* से जनाया कि सब-के-सब एक साथ आये (ग) *'करहिं जोहारु भेंट धरि आगे'*—यह प्रणामकी रीति दिखायी। (घ) *'प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे'* यह कहकर आगे इस अत्यन्त अनुरागकी दशा कहते हैं—*'चित्र लिखे……'*। अर्थात् एकटक खड़े देख रहे हैं; पलक नहीं मारते, हिलते-डोलते, बोलते आदि नहीं, जड़वत् हो गये, जैसे कागजपर खिंची हुई तसबीर हो। ऊपर गीतावलीका उद्धरण देखिये।

**राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥७॥**
**प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी॥८॥**
**दो०—अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय।**
**भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय॥१३५॥**

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सबको प्रेममें मग्न (डूबा) जाना। प्रिय वचन कहकर सबका सम्मान (परितोष) किया॥७॥ बारंबार प्रभुको प्रणाम करके हाथ जोड़कर वे सब बड़े ही नम्रताके वचन कह रहे हैं॥८॥ हे नाथ! प्रभु (आप) के चरणोंका दर्शन पाकर हम सब अब सनाथ हुए। हे कोसलराज! आपका आगमन (आना) हमारे भाग्यसे हुआ॥१३५॥

नोट—१ (क) *'अब सनाथ'* इति। इनका सनाथ होना क्या है? अधर्म-वृत्तिसे धर्ममें प्रवृत्ति हो गयी, जैसा आगे ये कहेंगे। यथा—*'यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई॥ हम जड़ जीव जीवगनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं।……सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ॥ जब तें प्रभुपदपदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥'* (२५१। ३—७) पुनः यथा—*'भए सब साधु किरात किरातिनि राम दरस मिटि गइ कलुषाई।'* (गी० २। ४६) (ख) *'भाग हमारे आगमनु'* इति। भाव कि ऋषि-मुनि लोगोंने तो अपने तपादि साधनके बलसे पाया और हम सब साधनहीन कुटिल जीव हैं, हमें दर्शनका सौभाग्य कहाँ हो सकता था। आपने कृपा करके दर्शन दिया। इनके भाग्यकी सराहना अवधवासियोंने भी की है। यथा—*'तिन्हके भाग सराहन लागे। लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।……नरनारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा। तुलसी कृपा रघुबंसमनि की……॥'* (२५१) मुनियोंने भी इनके भाग्य सराहे हैं। यथा—*'प्रभुहि बिलोकि मुनिगन पुलके कहत, भूरि भाग भए सब नीच नारि नर हैं। तुलसी सो सुखलाहु लूटत किरात कोल, जाको सिसकत सुर बिधि हरि हर हैं॥'* (गी० २। ४५)

वि० त्रि०—सरकारके पर्णशालामें डेरा करनेपर पहिले अमर, नाग, किन्नर, दिक्पाल लोग आये अपना दुःसह दुःख सुनाने। तत्पश्चात् मुनि लोग आये—अपना साधन सफल करनेके लिये। अन्तमें कोल-किरात आये आनन्दमें मग्न होकर सरकारके स्वागतके लिये। यथा—'*कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटनु सोना॥*' श्रीगोस्वामीजीने देवताओंसे अधिक प्रीति मुनियोंमें दिखलायी और उनसे भी कहीं अधिक प्रीति कोल-किरातोंमें दिखलायी। यद्यपि सरकारके वन आनेमें स्वार्थ अधिक देवता और मुनिवृन्दका था; देवता लोग सरकारसे आश्वासन पाकर हर्षित होकर घर गये, मुनि लोग आलिङ्गन करके बेखटके अपने ब्रह्मकर्ममें लग गये, पर सरकारकी सेवामें अपना भाग्य तो कोल-किरातोंने माना। देवताओंने भी कहा कि '*नाथ सनाथ भए हम आजू*' और कोल-किरातोंने भी कहा कि '*अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय*'; पर दोनोंके कहनेमें बड़ा अन्तर था। देवताओंके कथनमें स्वार्थ भरा था, उन्हें अवधका बधावा नहीं अच्छा लगा, क्योंकि उससे उनके स्वार्थको ठोस पहुँचाती, उनके वनवास होनेमें वे अपनेको सनाथ मानते हैं। इधर कोल-किरात इतनेमें ही कृतकृत्य हैं कि कोसलनाथका चरण हमारे देशमें पड़ा, '*भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय।*' ('*कोसलराय*' से यह भाव निकलता है कि चक्रवर्ती राजकुमार हैं, भला हमको आपका दर्शन कहाँ सम्भव था। जान गये कि राजकुमार हैं इसीसे आगे शिकार खिलानेको कहते हैं।)

**धन्य भूमि बन पंथु पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥ १॥**
**धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥ २॥**
**हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥ ३॥**
**कीन्ह बासु भलि ठाँउ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥ ४॥**
**हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥ ५॥**

अर्थ—हे नाथ! वह पृथ्वी, वन, मार्ग और पहाड़ धन्य हैं (अर्थात् उनके बड़े भाग्य हैं) जहाँ-जहाँ आपने अपना पैर रखा॥ १॥ वे पक्षी, पशु वनमें विचरनेवाले धन्य हैं, आपको देखकर सबके जन्म सफल हुए॥ २॥ कुटुम्बसहित हम सब धन्य हैं कि नेत्र भरकर आपका दर्शन किया॥ ३॥ अच्छी जगह विचारकर आपने वास किया है, यहाँ सभी ऋतुओंमें आप सुखी रहेंगे॥ ४॥ हम सब प्रकारसे हाथी, सिंह, सर्प, व्याघ्रसे बचाकर आपकी सेवा करेंगे॥ ५॥

नोट—१ '*धन्य भूमि*'''—भाव कि कुछ हमारे ही भाग्य नहीं हैं किन्तु इन सबके बड़े भाग्य हैं। संसारमें जन्म पाकर प्रभुके दर्शन हों तो वह जीवन सफल हो जाता है, यथा—'*एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥*' (७। ११०) '*पुनि पुनि सीयराम छबि देखी। मुदित सफल जग जीवन लेखी॥*' (१। ३४९) '*आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधु-बदन तुम्हारा॥*' (१। ३५७) '*फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन।*' (३। २६)

पु० रा० कु०—'*सकल रितु रहब सुखारी*' इस पदसे सरस्वतीने भावी कह दी है। वर्षमें छः ऋतुएँ होती हैं। चित्रकूटमें छहों ऋतु बीते हैं। इन शब्दोंसे यह जना दिया कि यहाँ एक वर्ष प्रभु रहेंगे। [वाल्मीकिजीने '*आश्रम कहौं समय सुखदायक॥*'''*तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू*' जो कहा था वही ये कहते हैं। गीतावली—'*सब दिन चित्रकूट नीको लागत।*' '*सब रितु*' अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शिशिर, हिम, बसन्त छहों ऋतुओंमें। गर्मीमें ताप नहीं, वर्षामें वृक्षोंके नीचे बूँद भी न आवेगी, जाड़ा भी न जान पड़ेगा। प्रज्ञानानन्दस्वामीजी लिखते हैं कि कोल-किरात तो जानते नहीं कि यहाँ कितने दिन निवास करना है। वे अपनी समझके अनुसार चित्रकूटकी विशेषता जनाते हैं। स्कन्दपु० में वर्षाकी समाप्तितक ही चित्रकूटमें निवास कहा गया है। २—'*करि केहरि अहि बाघ बराई*'—भाव कि मन्त्रद्वारा उनको यहाँसे बाहर कर देंगे, इनको आपके पास न आने देंगे।]

**बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥ ६॥**
**तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाँउ देखाउब॥ ७॥**
**हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥ ८॥**
**दो०—बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना अयन।**
**बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बयन॥ १३६॥**

शब्दार्थ—**बेहड़**=सघन, जहाँ रास्ता नहीं, कठिन। **निर्झर**=झरना। **कंदर**=गुफा, गुहा। **खोह**=पहाड़के बीचका गहरा गड्ढा वा दो पर्वतके बीचकी तंग जगह।

अर्थ—हे प्रभो! वन, बेहड़, पर्वत, कंदराएँ और खोह ये सब हमारी पैर-पैर देखी हैं (अर्थात् पैरभर भी जमीन नहीं है जो हमारी घूमी देखी न हो)॥ ६॥ हम तहाँ-तहाँ आपको शिकार खिलावेंगे। तालाब, झरने आदि अच्छे-अच्छे स्थल दिखावेंगे॥ ७॥ कुटुम्बसहित हम आपके सेवक हैं। हे नाथ! आज्ञा देनेमें संकोच न कीजियेगा॥ ८॥ जो भगवान्के वाक्यरूपी वेदको वा वेद, वाणी और मुनियोंके मनको भी दुर्गम हैं, वे ही करुणानिधान प्रभु भीलोंके वचन इस तरह सुन रहे हैं जैसे पिता बालकके वचनको सुनता है॥ १३६॥

नोट—१ (क) ***'बन बेहड़''''देखाउब'*** इति। 'कोसलराज' हैं; अतः शिकारका शौक होना स्वाभाविक है। और कोल-किरात इस वनके निवासी हैं तथा हिंसक जीवोंको मारकर पेट भरा करते हैं; अतः इनको शिकारवाले हिंसक जीवोंका पता है कि कहाँ-कहाँ छिपे रहते हैं। इसीसे वे उन सब जगहोंका नाम लेते हैं और वहाँ शिकार खेलानेको कहते हैं। (ख) ***'अहेर खेलाउब'*** इति। शिकारियोंके साथ हँकवारे होते हैं जो शिकारको खेदकर शिकारीके समीप लाते हैं। वा, जहाँ-जहाँ शिकारका मौका है वहाँ ले जाते हैं—यह सेवा हम करेंगे। (ग) वेदोंको अगम हैं, वे 'नेति-नेति' कहते हैं, अन्त न पा सके। ***'नेति नेति नित निगम कह।'*** (१२६) वाणी और मनको अगम, यथा—***'मन समेत जेहि जान न बानी।'*** (१। ३४१) मुनि वेद-शास्त्रोंके मनन करनेवाले हैं, मनको निग्रह करके चिन्तन करते हैं। जब इनके मन और वाणीकी पहुँच नहीं तो औरका क्या कहना!

नोट—२ (क) ***'ते प्रभु'***—ऐसे जो प्रभु हैं, कोई और नहीं। **कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः प्रभुः**—यहाँ 'प्रभु' पद सामर्थ्यवाचक दिया, यह दिखानेको कि वेदादिको भी अगम हैं, वे ही इनको अपनी कृपासे सुगम हो गये हैं। यथा—***'जिमि पितु बालक बयन'*** यथा—***'जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥'*** (१।८।९) (ख) ☞मिलान कीजिये लं० ११६ के ***'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥'***

**रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥ १॥**
**राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परितोषे॥ २॥**
**बिदा किए सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए॥ ३॥**
**एहि बिधि सिय समेत दोउ भाई। बसहिं बिपिन सुर मुनि सुखदाई॥ ४॥**

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीको केवल प्रेम प्रिय है। जो जाननेवाला है वह जान ले॥ १॥ तब श्रीरामजीने सब वनवासी कोलभीलोंको संतुष्ट किया और कोमल मीठे वचन कहकर, प्रेमको परिपुष्ट करनेवाले वचन कहकर उनको बिदा किया। वे माथा नवाकर चल दिये और प्रभुके गुण कहते-सुनते घर आये॥ २-३॥ इस प्रकार सुर-मुनिको सुख देनेवाले दोनों भाई श्रीसीताजीसहित वनमें बसते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'जानि लेउ जो जाननिहारा'*** इति।—अर्थात् जिसको जाननेकी चाह हो और जो जाननेवाला

हो वह इतनेसे जान ले। तात्पर्य यह कि यह समझकर और यह मानकर कि प्रभुसे प्रेम करना हमें कर्तव्य है, प्रभुसे प्रेम करो तो वे पितृवत् तुम्हारे वचन सुनेंगे और तुम्हें पुत्रवत् मानेंगे। हमारा यह कर्त्तव्य है, क्योंकि जब वे कोलभीलोंपर वात्सल्य रखते हैं तो जो वर्णाश्रममें हैं, कर्म-ज्ञान-उपासनाके अधिकारी हैं और प्रभुसे प्रेम करते हैं, प्रभु उनकी अवश्य अधिक सुनेंगे। यही बात गीतामें कही है। श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि जो पुरुष दुष्ट आचरणोंसे विरत नहीं है, जो शान्त नहीं है, वह इस आत्माको ज्ञानद्वारा नहीं पा सकता। (क० उ० १। २। २४) उसपर गीता कहती है कि जो अत्यन्त दुराचारी भी हो यदि वह अनन्यभाक् होकर मुझे भजता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शान्तिको प्राप्त होकर परमगतिको प्राप्त हो जाता है। यथा—'**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।''क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति॥ तेऽपि यान्ति परां गतिम्।**' (९। ३०-३१-३२) तब पुण्ययोनि ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तोंके लिये तो कहना ही क्या? ''**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।**' (३३) ये तो बेचारे कर्मज्ञानके अधिकारी ही नहीं, केवल प्रेम इनमें है।

वि० त्रि०—'केवल प्रेम' अर्थात् जिसमें ज्ञान-कर्मका संमिश्रण न हो, यथा—'*रीझत राम सनेह निसोते।*' कोल-किरातका ज्ञान और कर्मसे क्या सम्बन्ध? सो उनकी बातोंमें सरकारको बड़ा आनन्द आ रहा है, जैसे बच्चोंकी तोतली वाणी सुनकर पिताको आनन्द आवे। श्रीगोस्वामीजी महाराज पाठकोंको सावधान कर रहे हैं कि जाननेवाले लोग इतनेहीसे जान लें कि '*बेद बचन मुनि मन अगम*' जो प्रभु हैं, वह इतने आनन्दसे किरातोंकी बात सुन रहे हैं। किरातोंके पास सिवा शुद्ध प्रेमके और कौन साधन है?

प० प० प्र०—स्वामीका मत है कि यहाँ '*जाननिहारा*' से 'ज्ञानी' अभिप्रेत हैं। यथा—'*जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥*'(३। ११। १९) '*ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।*' (७। १३) भाव यह कि श्रीरामजीको केवल ज्ञानी इतने प्रिय नहीं जितने सगुन प्रेमी। प्रौढ़ तनयसे बालक सुत (दास अमानी) अधिक प्रिय है।

मिलान कीजिये—'*राम कृपा न करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम*'—

टिप्पणी—२ '*राम सकल बनचर''परितोषे*' इति।—सबके आन्तरिक प्रेमको पहिचानकर सबका परितोष किया, क्योंकि राम हैं, सबमें व्याप्त हैं; अतः 'राम' पद दिया। मृदु वचन यह कि वनमें तो हमें तुम्हारा ही भरोसा है, जो काम लगेगा कहेंगे और कौन यहाँ हमारा काम करनेवाला है, हम कदापि संकोच न करेंगे; अपने घर अब जाओ, घरका काम देखो-भालो, जब काम लगेगा तुम्हें बुला लेंगे। यह कहकर विदा किया।

टिप्पणी—३ '*सुर मुनि सुखदाई*' पदसे जनाया कि आप कोल-भीलोंको भी सुखदाता नहीं, वरन् सुर-मुनिको भी यहाँ बसकर सुख दे रहे हैं। दुष्टोंका दलन करके इनकी रक्षा कर रहे हैं। [भाव यह कि सुर-संत-हित अवतार लेकर उन्हें सुख देनेके लिये ही वनवासका दुःख उठा रहे हैं, वनमें आकर बसे हैं। इससे अनायास वहाँके कोल-किरातोंको भी सुख मिल गया। (प० प० प्र०)]

**जब ते आइ रहे रघुनायकु। तब ते भएउ बनु मंगलदायकु॥५॥**
**फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥६॥**
**सुरतरु सरिस सुभाय सुहाए। मनहु बिबुध बन परिहरि आए॥७॥**
**गुंज मंजु तर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुखदेनी॥८॥**

**दो०—नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर।**
**भाँति भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चित चोर॥१३७॥**

अर्थ—जबसे श्रीरघुनाथजी आकर यहाँ रहे तबसे वन मङ्गलदायक हो गया॥५॥ अनेक प्रकारके वृक्ष

अनेक प्रकारसे फूलते-फलते हैं। उनपर लपटी हुई सुन्दर बेलोंके मण्डप तने हुए हैं॥ ६॥ वे कल्पवृक्षकी तरह सहज ही सुहावने हैं, मानो देवताओंके वनोंको छोड़कर यहाँ आये हैं॥ ७॥ भौंरोंकी कतार-की-कतार अतिशय सुन्दर गुञ्जार कर रही हैं। सुख देनेवाली शीतल मन्द सुगन्धित तीनों प्रकारकी वायु चल रही हैं॥ ८॥ नीलकण्ठ, कोयल, तोते, पपीहे, चक्रवाक और चकोर आदि भाँति-भाँतिके पक्षी कानोंको सुख देनेवाली, चित्तको चुरानेवाली तरह-तरहकी बोलियाँ बोल रहे हैं॥ १३७॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—'*रघुनायक*' अर्थात् रघुकुलके स्वामी, एवम् 'रघु' अर्थात् जीवमात्रके स्वामी और नियन्ता। '*भयउ बनु मंगलदायक*' अर्थात् मङ्गलमय तो प्रथमसे था, अब दूसरोंके लिये भी मंगल प्रदान कर रहा है। अगली चौपाइयोंमें मङ्गलदायकका अर्थ खोला है। फल-फूल आदिसे सम्पन्न कर देना मङ्गलप्रद होना है।

टिप्पणी—२ '*मंजु बलित बर बेलि बिताना*' इति।—'बलित=बल खाया हुआ। आवेष्टित होकर, लपटकर। वर्तुलाकार गोल होकर लपटी हुई।

टिप्पणी—३ नीलकण्ठ मोरको कहते हैं और उस छोटे पक्षीको भी जिसका दर्शन दशहराके दिन माङ्गलिक माना जाता है।

नोट—१ मिलान कीजिये—'*आइ रहै जब ते दोउ भाई। तब तें चित्रकूट कानन छबि दिन दिन अधिक अधिक अधिकाई॥ १॥ सीताराम लषन पद अंकित अवनि सोहावनि बरनि न जाई। मंदाकिनि मज्जत अवलोकत त्रिविध पाप त्रयताप नसाई॥ २॥ उकठेउ हरित भए जल थल रुह नित नूतन राजीव सुहाई। फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई॥ ३॥ सरित सरनि सरसीरुह संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई। कूजत बिहँग मंजु मंजुल अलि जात पथिक जनु लेत बुलाई॥ ४॥ त्रिबिध समीर नीर झर झरननि जहँ तहँ रहे रिषि कुटी बनाई। सीतल सुभग सिलनि पर तापस करत जोग जप तप मन लाई॥ ५॥ भए सब साधु किरात किरातिनि रामदरस मिटि गइ कलुषाई। खग मृग मुदित एक सँग बिहरत सहज बिषम बड़ बैर बिहाई॥ ६॥ काम केलि बाटिका बिबुधबन लघु उपमा कबि कहत लजाई। सकल भुवन सोभा सकेलि मनो रामबिपिन बिधि आनि बसाई॥ ७॥ बन मिस मुनि मुनितिय मुनिबालक बरनत रघुबर बिमल बड़ाई। पुलक सिथिल तनु सजल सुलोचनु प्रमुदित मन जीवन फलु पाई॥ ८॥ क्यों कहौं चित्रकूट गिरि संपति महिमा मोद मनोहरताई। तुलसी जहँ बसि लषन राम सिय आनंद अवधि अवध बिसराई॥*' (गी० २।४६) आगेके पद ४७, ४८ में फागके साङ्गरूपकसे चित्रकूटकी शोभाका वर्णन है। ये सब '*मंगलदायक*' के भावमें आ जाते हैं।

नोट—२ वन, विटप, लता, भ्रमर आदिका वर्णन करके यह भी जनाते हैं कि प्रभु इनकी शोभा श्रीसीता-लक्ष्मणजीको दिखाते भी हैं। यथा—'*प्रिया प्रिय बंधु को दिखावत बिटप बेलि, मंजु कुंज, सिलातल, दल फूल फर हैं। ३। रिषिन्ह के आश्रम सराहैं मृग नाम कहैं, लागी मधु, सरित झरत निर्झर हैं। नाचत बरहि नीके गावत मधुप पिक, बोलत बिहंग नभ जल थल चर हैं॥ ४॥*' (गी० २। ४५)

प० प० प्र०—'*जब तें आइ रहे*'''*मंगलदायक*' इति। श्रीरामजी जब पञ्चवटीमें आकर बसे तब वहाँ वनका मंगलरूप होना नहीं कहा। किष्किन्धाकाण्डमें बालिवधके पूर्व भी 'मङ्गल' होनेका वर्णन नहीं है। बालिवधके पश्चात् ही प्रवर्षण गिरिपर निवास होनेपर '*मंगलरूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते॥*' ऐसा उल्लेख आता है। कारण कि पञ्चवटीके वनमें खर-दूषणादि अमङ्गलरूप राक्षस रहते थे, उनके रहते वन मङ्गलरूप कैसे हो सकता था और उनके वधके पश्चात् सीता-हरण हो गया, अतः अरण्यकाण्डमें मङ्गल शब्द नहीं आया। बाली भी अमङ्गलरूप था। अमङ्गलका हरण होनेहीपर मङ्गल हो सकता है (लंकाकाण्डमें अमङ्गल नाश होते ही प्रभु वहाँसे चल दिये। इससे वहाँ भी 'मङ्गल' शब्द नहीं है)।

**करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥ १॥**
**फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेषी॥ २॥**

**बिबुध बिपिन जहँ लगि जग माहीं। देखि राम बनु सकल सिहाहीं॥ ३॥**
**सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥ ४॥**
**सब सर सिंधु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना॥ ५॥**

अर्थ—हाथी, सिंह, बंदर, शूकर (सूअर) और हिरन वैरको छोड़कर सब साथ-साथ विचरते हैं॥ १॥ शिकारके लिये फिरते हुए (शिकारी धनुर्धारी) श्रीरामकी छबिको देखकर पशुओंके वृंदविशेष आनन्दमें मग्न हो जाते हैं॥ २॥ जहाँतक संसारमें देवताओंके वन हैं वे सब श्रीरामजीके वनको देखकर ललचाते हुए उनकी प्रशंसा करते हैं॥ ३॥ गङ्गा, सरस्वती, सूर्यकुमारी यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि बड़ी-बड़ी महिमामयी नदियाँ और सभी अनेक तालाब, समुद्र, नदियाँ और नद (सोनभद्र, ब्रह्मपुत्र, महानद आदि) मंदाकिनीकी बड़ाई कर रहे हैं॥ ४-५॥

नोट—'*होहिं मुदित मृग बृंद बिसेषी*' अर्थात् देखकर चित्र-सरीखे खड़े रह जाते हैं, यथा—'***सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥ अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति नायक हैं॥***' (क० २। २७)

पु० रा० कु०—१ (क) प्रथम वनकी रमणीयता वृक्ष, बेल, तालाब और नदीद्वारा दिखायी, अब जीवोंकी निर्विषमताद्वारा रमणीकता कहते हैं। (ख) '***सुरसरि सरसइ***""' इति। मंदाकिनीकी कौन-कौन बड़ाई करते हैं—गङ्गा जो सर्वतीर्थमयी हैं, ब्रह्मद्रव हैं, सरस्वती ब्रह्मरूपा; यमुना सूर्यभगवान्‌की कन्या, नर्मदा जिसमें शिवजी सदा निवास करते हैं और धन्या नदी जिसका भागवतमें वर्णन है अथवा ये सब धन्या अर्थात् पुण्य नदियाँ हैं और भी सब नदी-नद इत्यादि। बड़ाई यह कि इसके धन्य भाग्य कि परात्पर प्रभु इसके तटपर वास करते हैं, इत्यादि।

**उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ ६॥**
**सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेते॥ ७॥**
**बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥ ८॥**
**दो०—चित्रकूट के बिहग मृग बेलि बिटप त्रिन जाति।**
**पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति॥ १३८॥**

अर्थ—उदयाचल, अस्ताचल और कैलाश, मंदराचल, सुमेरु पर्वत आदि सभी देवनिवासस्थान, हिमाचल आदि जितने पहाड़ हैं वे सब चित्रकूटका यश गाते हैं॥ ६-७॥ विन्ध्याचल मनमें बड़ा प्रसन्न है, उसके मनमें सुख नहीं समाता। बिना परिश्रम ही बहुत बड़ाई पा गया है॥ ८॥ चित्रकूटके पक्षी, पशु, बेलें, वृक्ष और तृणकी समस्त जातियाँ सब महान् पुण्यशाली और धन्य हैं, दिन-रात देवता ऐसा कहते रहते हैं॥ १३८॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—चित्रकूटका यश कौन-कौन गाते हैं यह बताते हैं, जाति जातिवालोंको सिहाते हैं। वन वनको, जलाशय मंदाकिनी नदीको, पर्वत चित्रकूट-पर्वतको। उदयाचल ब्रह्माण्डका द्वार है, यहाँसे सूर्य उदय होते हैं, अस्ताचल जहाँ सूर्य संध्या-समय जाते हैं, कैलाशपर गौरीशङ्करका निवास है, मंदर जिसको कच्छपभगवान्‌ने अपनी पीठपर धारण किया और सुमेरु स्वर्णमय है, यहाँ सब देवताओंका वास है, रावणके भयसे यहीं देवता छिपा करते थे, यथा—'***रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥***' (१। १८२। ६)

नोट—'*बिंधि मुदित""बड़ाई पाई*' इति। विन्ध्याचलको सुख हुआ; क्योंकि चित्रकूट इसीका एक शृङ्ग है, कामता इसकी कन्या है; इसे राम पति मिले; इससे कामतानाथ नाम हुआ।

महाभारत वनपर्व अ० १०४ में कथा है कि सूर्य नित्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं। विन्ध्याचलने

उनसे कहा कि हमारी भी प्रदक्षिणा किया करो। उन्होंने कहा कि जगत्‌के ईश्वरने जो मार्ग मेरे लिये बना दिया है उसपर मैं चलता हूँ। यह सुन विन्ध्य कुपित हो सूर्य और चन्द्रकी गति रोकनेको बढ़ चला। देवता घबड़ाकर अगस्त्यजीके पास गये और उनसे प्रार्थना की कि आप ही उसके वेगको रोकें। वे स्त्रीसहित विन्ध्याचलके पास आये और कहा कि मैं कार्यसे दक्षिण दिशाको जाता हूँ, मुझे जानेकी राह दो और जबतक मैं न लौटूँ तुम और न बढ़ना; उसने आज्ञा मान ली। अगस्त्यजी दक्षिणसे फिर लौटे ही नहीं। इस कथाके यहाँ देनेका भाव यह है कि इतना परिश्रम इसने सुमेरुका वह बड़प्पन पानेके लिये किया था सो सब व्यर्थ गया; बड़ाई न मिली। और अब श्रीरामजीकी कृपासे उसको सुमेरुतक सिहाते हैं। वाल्मीकिजीने जो कहा था—'*राम देहु गौरव गिरिबरहू*' उसका यहाँ चरितार्थ है। यह गौरव इसको मिला। पुनः, गुरु अगस्त्यकी आज्ञा मानी, उसका यह फल हुआ। [हिमालय आदि पहाड़ोंके पत्थर स्तरमय (stratified) नहीं है, विन्ध्याचलके पत्थर स्तरमय हैं। स्तरमय पत्थर खड़े नहीं मिलते; क्योंकि ऐसी अवस्थामें वर्षा और हिम-ऋतुके परिवर्तनोंके कारण स्तरमय अवस्थामें बने नहीं रह सकते। स्तरमय पत्थर सभी पड़ी हुई अवस्थामें मिलते हैं। इस प्रकार अब भी विन्ध्यगिरिको लेटा हुआ और हिमालयको खड़ा हुआ कहा जा सकता है।]

टिप्पणी—२ '*चित्रकूटके बिहग*' इति।— चित्रकूटकी कथाको अब यहाँ समेटकर कहते हैं कि यहाँके पशु-पक्षी आदि सब धन्य हैं। '*दिन राति*'—यहाँ एक वर्ष प्रभु रहे। यह देवताओंका एक दिन एक रात हुआ, यह भी भाव निकलता है। दूसरा तो स्पष्ट है ही।

वि० त्रि०—'*चित्रकूटके*...*दिन राति।*' चित्रकूटके वनकी सराहना तो नन्दनादिक वन कर रहे हैं। चित्रकूटकी नदीकी सराहना गङ्गादिक नदियाँ कर रही हैं, वहाँके पर्वतकी सराहना सुमेरु आदि पर्वत कर रहे हैं, और कहाँतक कहा जाय वहाँके खग, मृग, तृण, तरुकी सराहना तो देवता लोग दिन-रात करते हैं, क्योंकि खग, मृग दिन-रात सरकारका दर्शन पाते हैं, तृण, तरु सरकारके चरणरजसे अलङ्कृत होते हैं, ब्रह्मसंस्पर्शरूपी महासुखका अनुभव करते हैं। इतना भाग्य हमारा नहीं, अतः देवताओंको दिन-रात यही चिन्ता लगी रहती है।

**नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥ १॥**
**परसि चरनरज अचर सुखारी। भए परम पद के अधिकारी॥ २॥**
**सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥ ३॥**
**महिमा कहिअ कवन बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥ ४॥**
**पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लषनु राम रहे आई॥ ५॥**

अर्थ—आँखवाले प्राणी श्रीरघुनाथजीको देखकर जन्मफल पाकर शोक-रहित हो जाते हैं, अर्थात् आवागमनकी चिन्ता मिट जाती है॥ १॥ चरणोंकी धूलिका स्पर्श करके जड़ (पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष) सुखी हैं, सब परम पदके अधिकारी हो गये॥ २॥ वे वन और पर्वत सहज ही सुहावने, अत्यन्त मंगलमय और परम पावनको भी पवित्र करनेवाले हैं॥ ३॥ उसकी महिमा किस प्रकार कही जा सके, जहाँ सुखसिंधु श्रीरामजीने निवास किया है॥ ४॥ क्षीर-सिन्धुको छोड़कर तथा अवधको छोड़कर जहाँ श्रीसीतारामलक्ष्मणजी आकर रहे॥ ५॥

पु० रा० कु०—१ '*नयनवंत*' अर्थात् जिनको ऊपर कह आये उनमेंसे जो नेत्रवाले हैं वे '*होहिं बिसोकी*' अर्थात् स्वस्वरूपके अधिकारी होते हैं। यथा—'**मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥**' (वाल्मी० ७।८२।१०) रहे अचर, वे चरणरजके स्पर्शसे परमपदके अधिकारी बनते हैं। जैसे, अहल्या पाषाण रज-स्पर्शसे दिव्यरूप हो परमपदको पा गयी। प्रथम दो अर्धालियोंका मिलान आगे, '*जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परम पद जोगू। भरतदरस मेटा भव रोगू॥*' (२१७। १-२) इस चौपाईसे करेंगे।

टिप्पणी—२ *'मंगलमय अति पावन पावन'* इति। यथा—**'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्', 'पावनं पावनानाम्'** अर्थात् पवित्रको भी पवित्रकर्त्ता और मंगलको भी मंगलदाता है।

टिप्पणी—३ *'पयपयोधि तजि अवध बिहाई।'''* इति। ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि चित्रकूटकी महिमा किस तरह कही जाय, वह तो क्षीरसागर और अवधसे भी अधिक सुन्दर हो रहा है, क्योंकि जो क्षीरसमुद्र शेषशायी श्रीमन्नारायण, लक्ष्मी और शेषजीका निवासस्थान है उसे छोड़कर ये तीनों श्रीरामसीतालक्ष्मणरूपसे अवधमें आकर रहे, अब उस अवधको छोड़कर पैदल यहाँ आकर रहे। क्षीरसिन्धुसे अवध बढ़कर और उससे यह बढ़कर हुआ। *'रहे आई'* अर्थात् पैरों चलकर यहाँ आये।

बैजनाथजी—गोस्वामीजी मानसमें कई कल्पोंकी कथाएँ मिश्रित कर रहे हैं। जिनमेंसे विष्णुभगवान् (वा, नारायण), लक्ष्मी और शेषजी सदा कश्यप-अदितिके अवतार श्रीदशरथ-कौशल्याजीके यहाँ अवतरित हो लीला करते हैं। और मनु-शतरूपा—दशरथ-कौशल्याके यहाँ सदा साकेतसे श्रीरामलक्ष्मणसीता नित्यरूपका आविर्भाव होता है। क्षीरसागरसे रामलक्ष्मणसीता नहीं आते; वहाँसे तो लक्ष्मीनारायण-शेषजी ही आते हैं और यहाँ आकर यह नामरूप धारण करते हैं। इस अर्धालीसे भी दोनों अवतारोंकी कथा सूचित कर दी है। प्रथम चरणमें *'पयपयोधि'* आदि और दूसरे चरणमें *'लषन राम सिय'* नाम देनेसे दोनों काम हो गये। लक्ष्मीनारायण क्षीरसागरको छोड़कर और श्रीसीतारामजी अवध (साकेत) को छोड़कर यहाँ आकर रहे।

वि० त्रि०—पयपयोधि (क्षीरसागर) में जो मूर्ति है, वही अवतारी है, उसीके अंशसे अवतार हुआ करते हैं, यथा—**'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥'** श्रीकृष्णावतारमें भी यह मूर्ति ज्यों-की-त्यों क्षीरसागरमें बनी रही। जयद्रथ-वधके समय श्रीकृष्णजी अर्जुनको शक्ति प्राप्त करानेके लिये वहीं ले गये थे (महाभारत); पर श्रीरामावतारमें स्वयं वह मूर्ति रामचन्द्ररूपमें अयोध्या चली आयी। अतः श्रीराम अवतारी हैं, अन्य अवतार उन्हींके अंश हैं। श्रीरामजी साक्षात् नारायण हैं, सीताजी महालक्ष्मी हैं, और लक्ष्मणजी शेष हैं, जैसा कि वाल्मीकिजीने वर्णन किया है। इन लोगोंने क्षीरसागर छोड़ा अयोध्यावासके लिये। उस अयोध्याजीको भी चित्रकूटके लिये छोड़ा, उस चित्रकूटकी महिमा कैसे कही जाय? (पर यह मत श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंका नहीं है। श्रीहरिदासाचार्यका श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर भाष्य, वाल्मीकीयके शिरोमणि टीकाकार आदिके लेख देखिये। बालकाण्डमें इस विषयमें लेख आ चुके हैं; अतः यहाँ दुहराये नहीं जाते।)

**कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौं सतसहस होहिं सहसानन॥ ६॥**
**सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर* कमठ कि मंदर लेहीं॥ ७॥**
**सेवहिं लषनु करम मन बानी। जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥ ८॥**
**दो०—छिनु छिनु लखि सियरामपद जानि आपु पर नेहु।**
**करत न सपनेहु लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥ १३९॥**

अर्थ—जो लाखों अर्थात् अनन्त हजारमुखवाले शेष भी हों तो भी वनकी जैसी परमा शोभा है उसे वे कह नहीं सकते॥ ६॥ (भला फिर) उसे मैं किस प्रकार वर्णन करके कह सकता हूँ? क्या गढ़ेका कछुआ मन्दराचल उठा सकता है?॥ ७॥ श्रीलक्ष्मणजी मन, कर्म, वचनसे श्रीसीतारामजीकी सेवा करते हैं। उनका शील और स्नेह वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ८॥ क्षण-क्षणपर श्रीसीतारामजीके चरणोंको देख-देखकर और अपने ऊपर उनका प्रेम (वात्सल्य) जानकर लक्ष्मणजी भाई, माता, पिता और घरकी ओर स्वप्नमें भी चित्त नहीं करते॥ १३९॥

* 'डाबर' का अर्थ बच्चा भी कहते हैं—'सोई बाँह गही जो गही समीर डावरे'—(बाहुक)

टिप्पणी—*'डाबर कमठ कि मंदर लेहीं'* इति। भगवान्हीमें सामर्थ्य थी कि वे कच्छप बनकर उसे धारण कर सके, और समुद्रका भी कैसा ही कछुआ हो तो उसे नहीं धारण कर सकता, फिर भला गढ़ेके कछुवेकी क्या हकीकत? वाल्मीकि आदि समुद्रके कछुए हैं। मैं गढ़ेका कछुआ हूँ। दोनोंकी जाति एक, दोनों कवि। हम कवि मानसके हैं और उसी सरके हम कमठ हैं। कहाँ तालाब और कहाँ समुद्र? भाव कि इसकी महिमा भगवान् ही भले कह सकें, दूसरा नहीं कह सकता। वाल्मीकिजीने कुछ कही—*'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ।'* और यह भी कहा कि अमित है।

टिप्पणी—२ *'सेवहिं लखनु''गेहु'*—यहाँ अन्योन्य प्रीति दिखायी। श्रीसीयरामपद देखकर किसीकी सुध नहीं करते। इस दोहेमें सुमित्राजीके उपदेश इनमें चरितार्थ हैं कि लक्ष्मणजी इन चरणोंको ही माता, पिता, भाई, घर—सब कुछ मानते हैं। (यह दोहा भी लक्ष्मण-शत्रुघ्नको सहोदर भाई सूचित करता है।)

शील नेत्रमें, स्नेह मनमें। *'सील सनेह'* से भीतर-बाहर दोनोंसे सेवा जनायी। *'सीयरामपद'*—स्मरण रहे कि लक्ष्मणजीने चरण छोड़ कभी श्रीसीताजीके मुखपर दृष्टि नहीं डाली, यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट है—**'नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥ नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।'** (४।६। २२-२३)

**राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥ १॥**
**छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। प्रमुदित मनहु चकोर कुमारी॥ २॥**
**नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥ ३॥**
**सिय मनु रामु चरन अनुरागा। अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥ ४॥**
**परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥ ५॥**
**सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर। असनु अमिअ सम कंदमूल फर॥ ६॥**
**नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई॥ ७॥**
**लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू॥ ८॥**

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके साथ श्रीसीताजी अवधनगर, कुटुम्बियों और घरकी याद भुलाकर सुखी रहती हैं॥ १॥ पतिके चन्द्रमुखको क्षण-क्षणपर देख-देखकर ऐसी परम प्रसन्न रहती हैं मानो चकोरकी किशोरी है जो चन्द्रमाको देख प्रसन्न हो रही है॥ २॥ स्वामीका प्रेम अपने ऊपर नित्यप्रति बढ़ता हुआ देखकर वे ऐसी प्रसन्न रहती हैं जैसे चकवी दिनमें (चकवेके साथ प्रसन्न रहती है)॥ ३॥ श्रीसीताजीका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अनुरक्त है, अतः वन उनको हजारों अवधके समान प्रिय लगने लगा॥ ४॥ प्राणप्रियतमके साथ पत्तोंकी कुटी प्यारी लगती है, हरिण और पक्षी प्रिय और प्यारे कुटुम्बियोंके समान प्रिय लगते हैं॥ ५॥ मुनियोंकी स्त्रियों और मुनिश्रेष्ठ सास-ससुरके समान, कन्द-मूल-फल अमृत भोजनके समान प्रिय लगता है॥ ६॥ स्वामीके साथ सुन्दर साथरी (कुश और नवीन पत्तोंकी सेज) सैकड़ों कामदेवोंकी सेजके समान सुख देनेवाली थी॥ ७॥ (कवि कहते हैं कि) जिसके कृपा-कटाक्षमात्रसे लोग इन्द्र आदि लोकपाल बन जाते हैं, क्या उसको विषय-विलास (सांसारिक सुख-भोगके पदार्थ) मोहित कर (लुभा) सकते हैं॥ ८॥

नोट—*'नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी'* इति। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कोकीका आनन्द भी बढ़ता जाता है। यहाँ दिवस और नाहनेह क्रमशः उपमान और उपमेय हैं।

टिप्पणी—१ *'राम संग''कुमारी'* इति। अब श्रीसीताजीकी अनन्यता दिखाते हैं। आकाशमें अगणित तारागण देख पड़ते हैं, पर चकोरकुमारी चन्द्रमाकी ही ओर देखती है; वैसे ही श्रीसीताजी पुर-परिजन-गृह आदिकी सुरति बिसराकर श्रीरामचन्द्रके मुखचन्द्रको ही देखा करती हैं। चकोरकुमारीसे उपमा दी; क्योंकि ये अभी 'सुकुमारी' हैं। पुनः, इससे प्रीतिका दिन-दिन बढ़ना भी सूचित करते हैं। (श्रीजनकजीने जब प्रथम-प्रथम

श्रीरामजीको देखा तब उनकी दशा यह हुई थी—'*थकित होत जिमि चंद चकोरा।*' ये उनकी कुमारी हैं। अत: '*चकोर कुमारी*' की उपमा और भी उत्तम है।)

टिप्पणी—२ '*नाह नेहु*' इति। (क) चकोरकुमारीकी उपमा देकर सोचे कि चकोरकी प्रीति चन्द्रमामें है; पर चन्द्रमाका प्रेम चकोरपर नहीं होता। अतएव फिर दूसरी उपमा '*कोकी*' की दी। दूसरी अर्धालीमें श्रीसीताजीका प्रेम श्रीरामजीपर कहा—'*छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी*' और तीसरीमें श्रीरामजीका प्रेम श्रीसीताजीपर कहा—'*नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी।*' इस प्रकार परस्पर अन्योन्य प्रेम कहा। चक्रवाकका सङ्ग पाकर कोकी प्रसन्न है। पुनः, (ख) दो उपमाएँ देकर दिन-रात प्रसन्न होना दिखाया। '*छिनु छिनु*…' से रातका आनन्द कहा; क्योंकि चन्द्रमा रातको ही निकलता है और '*नाह नेहु*…' से दिनका सुख कहा; क्योंकि कोक-कोकीका संयोग दिनमें ही रहता है। इस प्रकार निरन्तर आनन्द सूचित किया। (ग) मुख देखना यह शृङ्गाररसकी दृष्टि श्रीसीताजीके विषयमें कही। पुनः, चित्रकूट श्रीरामजीका विहार-स्थल है, अत: शृङ्गार कहा। (मिलान कीजिये, गीतावलीके '*बिरचित तहँ पर्नसाल अति बिचित्र लषनलाल, निवसत जहँ नित कृपालु रामजानकी। निज कर राजीवनयन पल्लव दल रचित सयन, प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की॥ सिय अंग लिखैं धातु राग सुमननि भूषन बिभाग तिलक करनि का कहौं कलानिधान की॥ माधुरी बिलास हास*…*।*' (२।४४) इस उद्धरणसे। इसे '*नाह नेहु*…' का भाव समझिये।

टिप्पणी—३ '*लोकप होहिं*…', यथा—'*जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। राम पदारबिन्द रति करति सुभावहि खोइ॥*' (२४) ('*लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥*' (१०३। ६) में देखिये)। छोटा सुख हो तो बड़ेको देख मोहित हो और इनको तो सबसे बड़ा सुख प्राप्त है, फिर कैसे कोई मोह सके। ये चरण ऐसे ही हैं!! यहाँसे ऐश्वर्य वर्णन करते हैं। पूर्व श्रीसीताजीने जो कुछ साथ चलनेके लिये श्रीरामजीसे कहा था, वह यहाँ चरितार्थ है या यों कहें कि यहाँ उसका उपसंहार है—

| दोहा ६४ से ६७ तक | (मिलान) | प्रस्तुत प्रसङ्ग |
|---|---|---|
| नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। | १ | छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। |
| सरद बिमल-बिधु-बदन निहारे॥ | | प्रमुदित मनहु चकोर कुमारी॥ |
| छिन छिन प्रभुपदकमल बिलोकी। | २ | नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। |
| रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥ | | हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥ |
| बनदेवी बनदेव उदारा। | ३ | |
| करिहैं सासु ससुर सम सारा॥ | | सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर। |
| कंद मूल फल अमिय अहारू। | ४ | असनु अमिअ सम कंद मूल फर। |
| खग मृग परिजन । | ५ | प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥ |
| कुस किसलय साथरी सुहाई। | ६ | नाथ साथ साथरी सुहाई। |
| प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥ | | मयन सयन सय सम सुखदाई॥ |
| अवध सौध सत सरिस पहारू। | ७ | अवध सहस सम बन प्रिय लागा। |
| नाथ साथ सुरसदन सम पर्नसाल सुखमूल॥ ८॥ | ८ | रामलषनसीतासहित सोहत पर्ननिकेत। जिमि बासव बस अमरपुर सची…॥ |

**दो०—सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम बिषय बिलासु।**
**रामप्रिया जगजननि सिय कछु न आचरजु तासु॥ १४०॥**

अर्थ—श्रीरामजीका स्मरण करते ही (उनके) भक्त लोग विषय-विलासको तिनकेके समान त्याग देते हैं तब, श्रीसीताजी तो श्रीरामचन्द्रजीकी प्रियपत्नी और जगत्-माता हैं, उनके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं॥ १४०॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुमिरत रामहिं तजहिं''''* इति। *'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ राम प्रेम भाजन भरत बड़े न एहि करतूति।'* (३२४) *'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥'* (८४।८) (ख) *'राम प्रिया'* का भाव कि जिन रामका स्मरण करनेसे लोग विषयविलाससे विरक्त हो जाते हैं उन्हीं श्रीरामकी यह 'वल्लभा' हैं, स्वयं श्रीरामजीका जिनमें प्रेम है वे भला विषयोंके वशमें कब हो सकती हैं। इसमें आश्चर्य क्या? (ग) *'जगजननि'* का भाव कि समस्त ब्रह्माण्डकी ये माता हैं, अतः विषय-भोग विलासकी जननी हैं, ये सब इन्हींके उत्पन्न किये वा बनाये हुए हैं तब वे विषयोंके बस कैसे हो सकती हैं? अन्य स्त्रीमें यह त्याग हो तो आश्चर्य हो सकता है, इनमें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

**सीय लषनु जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथु करहिं सोइ कहहीं॥ १॥**
**कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लषनु सिय अति सुखु मानी॥ २॥**
**जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥ ३॥**
**सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरतु सनेहु सील सेवकाई॥ ४॥**
**कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी॥ ५॥**
**लखि सिय लषनु बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरषहि अनुसर परिछाहीं॥ ६॥**
**प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु। धीर कृपाल भगत उर चंदनु॥ ७॥**
**लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं लषनु अरु सीता॥ ८॥**

अर्थ—श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणजीको जिस प्रकार सुख प्राप्त हो, श्रीरघुनाथजी वही करते और वही कहते हैं॥ १॥ पुरानी कथा-कहानी कहते हैं, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी अत्यन्त सुख मानकर सुनते हैं॥ २॥ जब-जब श्रीरामजी अवधकी याद करते हैं तब-तब दोनों नेत्रोंमें जल भर आता है॥ ३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, भाई और भाई भरतके प्रेम, शील और सेवाको* याद करके दयासागर प्रभु दुःखी हो जाते हैं, फिर कुसमय† समझकर धीरज धारण करते हैं॥ ४-५॥ (प्रभुको दुःखी) देखकर श्रीसीता-लक्ष्मणजी व्याकुल हो जाते हैं; जैसे मनुष्यकी परिछाहीं मनुष्यके अनुसार चलती और करती है॥ ६॥ धीर, दयालु, भक्तोंके हृदयको (शीतल करनेको) चन्दनरूप रघुकुल एवं जीवमात्रको आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी प्यारी पत्नी और भाईकी दशा देखकर कुछ पवित्र कथाएँ कहने लगे, जिन्हें सुनकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सुख पाते हैं॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'सोइ रघुनाथु करहिं सोइ कहहीं'* इति। यहाँ *करहिं* और *कहहीं* दो क्रियाएँ दी गयी हैं, एक *'करहिं'* सीताके लिये और दूसरी *'कहहीं'* लक्ष्मणजीके लिये। क्या करते हैं—पुष्पशय्या, पुष्पोंका शृङ्गार आदि करते हैं। पुनः, श्रीसीताजी जगज्जननी हैं, जगत्‌की उत्पत्ति करती हैं, वेदान्तीके मतमें जगत् झूठ है, यदि रामजी कुछ लीला करें तो यह सत्य हो, अतएव कुछ करते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मणजीके लिये कुछ कहते हैं। वेद नेति-नेति करते हैं। शेष भी यश कह नहीं सकते। ये कोई भी प्रभुको नहीं बता सकते तो हम ही कुछ कहें तो कहाँतक ठीक होगा, कौन सत्य मानेगा, ऐसा शेषावतार लक्ष्मणजी सोचते हैं; अतएव इनका कथन सत्य करनेके लिये प्रभु श्रीमुखसे कुछ कहते हैं। इसी प्रकार कथा और कहानी क्रमसे लक्ष्मणजी और सीताजीके लिये कहे। कथा प्रबन्ध-कल्पनायुक्त होती है, कहानी किस्सा है।

नोट—आगे दोहेमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजीको शची, इन्द्र और जयन्तकी उपमा दी है। श्रीरामजी

---

* पु० रा० कु०—अथवा, यथासंख्यसे माता-पिताका स्नेह, परिजनका शील (कि एक हम हैं जो किसी कामके न हुए, हमारा जीवन व्यर्थ है) और भरतकी सेवा।

† 'कुसमय'—त्यागी-तपस्वी वेषमें ऐसा मोह उचित नहीं। लोग समझेंगे कि राज्य छूटनेका शोक है।

श्रीसीताजीका उसी प्रकार मनोविनोद करते हैं जैसे इन्द्र इन्द्राणीका करते हैं। ठीक यही बात वाल्मी० २। ९४ में कही है। यथा—'*अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्।* **भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरन्दरः॥**' (२) अर्थात् एक दिन श्रीसीताजीको खुश तथा अपना चित्त-विनोद करनेके लिये चित्रकूटकी रमणीयता बतलायी, जिस प्रकार इन्द्र शचीका मनोविनोद करते हैं। यह कहकर आगे जो कुछ कहा गया है वह सब '*जेहि बिधि सुख लहहीं सोइ रघुनाथ करहिं*', '*कहहिं*' में आ गया।

वाल्मी० २। ९४ में पर्वतके शिखर, प्रदेश, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि दिखलाते हुए उनकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि यहाँके प्रदेश कोई चाँदीके-से, कोई इन्द्रनीलमणिके-से, कोई पोखराज, पारा इत्यादिके समान हैं, इससे जान पड़ता है कि यह पर्वत इन सबोंका कारण है। सिंह, बाघ, हाथी भी बहुत हैं पर ये दुष्ट नहीं हैं। तुम दोनोंके साथ यहाँ वर्षों भी रहनेमें मुझे कष्ट न होगा। इस वनवाससे मुझे दो फल प्राप्त हुए—पिताका ऋण चुक गया, मैं भरतका प्रिय हुआ। हमारे बूढ़े प्रपितामहने नियमपूर्वक वनवास करनेको अमृत बताया है। इस पर्वतकी ओषधियाँ रात्रिमें अग्निशिखाके समान प्रकाशित होती हैं। बहुत मूल-फल-फूल ओषधियों, शिखरों, रंगबिरंगकी शिलाओं और जलवाला चित्रकूट पर्वत कुबेरकी नगरी, इन्द्रकी नगरी और उत्तर कुरुको अपनी शोभासे जीत रहा है। सत्पुरुषोंके मार्गमें नियमपूर्वक स्थिर रहकर यदि मैं तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ १४ वर्ष आनन्दपूर्वक बिता सका तो कुल और धर्मको बढ़ानेवाला आनन्द पाऊँगा। सर्ग ९५ में श्रीरामने रमणीय मन्दाकिनीकी शोभा दिखाते और प्रशंसा करते हुए कहा कि चित्रकूट तथा मन्दाकिनीका दर्शन तुम्हारे निरन्तर साथ रहनेके कारण नगरवाससे मुझे अच्छा मालूम होता है। यहाँके वनवासियोंको नगरनिवासियोंके समान, चित्रकूटको अयोध्या और मन्दाकिनीको सरयू समझो। लक्ष्मण और तुम दोनों मेरे अनुकूल हो, इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे साथ यहाँ तीनों काल स्नान करनेसे, मधु, फल आदि भोजनसे मैं अयोध्या या राज्यकी चाह नहीं करता, इत्यादि। फिर वे उनके साथ पर्वतपर विचरण करने लगे। यह एक दिनकी बात कही, इसी प्रकार अन्य दिनोंमें प्रसन्न करनेकी बातें किया करते हैं तथा उनको सुख देनेवाले कार्य भी करते हैं।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—२ (क) '*सुनहिं लषनु सिय*''' इति। इनको रूप प्राप्त है तो भी कथा प्रिय है, यह उपदेश है। (ख) '*जब जब राम अवध सुधि करहीं*......' इति। पुरवासी तमसासे लौट रहे हैं, उनकी क्या दशा है—'*रथकर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं॥ मनहु बारिनिधि बूड़ जहाजू। भएउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥*''' अवधभरकी ऐसी दशा हो रही है। यह सोचते हैं तब आँसू निकल पड़ते हैं। भक्तोंके लिये प्रभु सत्य ही दुःख उठाया करते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४। ११) (ग) '*सुमिरि मातु पितु*''' इति। माता कौसल्याकी क्या दशा होगी, वह कैसे वियोगको सह सकेगी। पिता वृद्ध हैं, कोई पासमें नहीं है, वियोगसे वे मरणप्राय हो रहे हैं, परिजन, परिवार सभी शोकमें डूबे होंगे, इत्यादि। भरतजी भी घरमें नहीं हैं; हममें उनका बड़ा प्रेम है। वे भी वनगमन सुनकर दुःखी होंगे, कहीं वे भी वनवासी न हो जायँ। इत्यादि। (घ) '*कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी*' इति। प्रभु अर्थात् समर्थ हैं तथापि दुःखी होते हैं, क्योंकि कृपासिंधु हैं। अपनी कृपालुता-दयालुताके कारण जनके दुःखोंमें दुखी होते हैं—'*करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥*' (८५। २), '*जनके दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधानकी।*' (गी० ५। ११) (अवधकी सुधि आनेपर '*बारि बिलोचन भरहीं*' और माता-पिता आदिके स्मरणसे '*होहिं दुखारी*' कहकर जनाया कि माता-पिता आदिको दुःख विशेष है, उनका प्रेम विशेष है।)

टिप्पणी—३ '*लखि सिय*'' *परिछाहीं*' इति। (क) मनुष्यकी परछाहीं उसका अनुकरण करती है। जो वह करता है वही परिछाहीं करती है। वैसे ही श्रीसीता-लक्ष्मणजी सहज ही व्याकुल हो ही जाते हैं, यद्यपि श्रीरामजी नहीं चाहते कि वे दुःखी हों। इसीसे पुरुष और परिछाहींका उदाहरण दिया। (ख) शंका—यहाँ पुरुष तो एक ही है और परिछाहीं दो (सीता और लक्ष्मण), ये कैसे घटित हों? समाधान—यहाँ केवल प्रतिछाहींका धर्म

लिया गया है, एक-दोसे यहाँ कोई सरोकार नहीं। अथवा, जितने प्रकाश उतना ही परिछाहीं होती हैं, जैसे शीशेके मन्दिरमें सैकड़ों परिछाहीं एक ही पुरुषकी देख पड़ती हैं, एक रवि कोटि घटमें कोटि प्रतिछाहीं।

टिप्पणी—४ *'धीर कृपाल भगत उर चंदनु॥'''* इति। हमें शोकातुर देख हमारे परम भक्त दुःखी न हों, इससे धीरज धरा, क्योंकि धीर हैं। उनका दुःख जानकर उनके हृदयको शीतल करनेके लिये धर्मोपदेशकी कथाएँ कहने लगे; अतएव कृपाल और भक्त-उर-चन्दन कहा।

**दो०—राम लषनु सीता सहित सोहत परननिकेत।**
**जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥ १४१॥**

अर्थ—श्रीलक्ष्मण और श्रीसीतासहित श्रीरामचन्द्रजी पर्णकुटीमें ऐसे सोह रहे हैं जैसे जयंत और इन्द्राणीसहित इन्द्र अमरावतीमें बसता हुआ सोहता है॥ १४१॥

पु० रा० कु०—राज्य छूटा, बनवास हुआ, इससे अनुमान होगा कि बनमें तीनों अवश्य दुःखी होंगे; इसीसे लिखते हैं कि वे तो वनमें परम सुखी हैं, दुःखका यहाँ लेश नहीं, श्रीरामजीको वनमें अमरावतीमें वास करनेवाले सुरराज इन्द्रका-सा सुख है, श्रीसीताजीको इन्द्राणीका और श्रीलक्ष्मणजीको उनके पुत्र जयन्तका-सा सुख है कि अपने माता-पिता श्रीसीतारामजीके साथ रहते हैं। कुटी अमरपुर है, देवताओंने इसे अपने हाथोंसे बनाया है। समस्त देवता ब्रह्मा-इन्द्रादि सब हाथ जोड़े सेवामें रहते हैं; इसीसे इसे अमरपुर कहा।

वि० त्रि०—यहाँ रामजीकी उपमा वासव (इन्द्र) से, सीताजीकी शचीसे, लक्ष्मणजीकी जयन्तसे, पर्णनिकेतकी अमरावतीसे दी गयी है। भाव यह कि पर्णनिकेतमें रहते हुए भी यदि सब प्राणियोंमें प्रेम हो तो पर्णनिकेत भी अमरावती-तुल्य हो जाता है। यहाँ तो इस पर्णनिकेतमें अमरावतीका वैभव विश्वकर्माने निहित किया है। देखनेमें वह पर्णनिकेत है, पर अमरावती-सा सुखद है, यथा—*'बिभव भेद यह काहु न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥'* सरकार पर्णकुटीमें तो ठहरे हैं, पर अमर-नाग-किन्नर-दिक्पाल हाजिर हो रहे हैं, मुनि लोग पधार रहे हैं, कोल-किरात सब करबद्ध सेवाके लिये प्रस्तुत हैं। जहाँ जाते हैं वहीं उनका साम्राज्य है, चित्रकूटमें आ बसे तो वहीं साम्राज्य हो गया, इसलिये गोस्वामीजी कहते हैं कि *'जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत।'*

बैजनाथजी—यहाँ गुप्त रीतिसे सखियोंके साथ लीला-विहार भी जना दिया है। जैसे जयन्त आज्ञाकारी, इन्द्राणी पतिव्रता और इन्द्र अनेक अप्सराओंके साथ विहार करता है—यह गोप्य रहस्य है। बृहद्रामायण चित्रकूट-माहात्म्यमें प्रसिद्ध है। यथा—'**एतत्ते कथितं विप्र माहात्म्यं पापनाशनम्। अग्रे रामरहस्यं च गोपनीयं सदा बुधैः॥ न प्रकाश्यं न प्रकाश्यं न प्रकाश्यं कदाचन॥**' पुनः, यथा—'**सिंहासने समासीनो ध्यायेन्निर्मल-चेतसः। तत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहितः सुधीः॥ विमलादिसखीयुक्तो योगिनां योगसिद्धिदः'''**।' नित्य विहार गुप्त है, इसीसे इन्द्रकी उपमा दी; और सबके देखनेमें तो मुनिवेषसे पर्णशालामें ही बैठे हैं।

पंजाबीजी—इन्द्रकी समतामें एक अंग ग्रहण करना चाहिये, वह यह कि वनवासीरूपमें भी वे विरूपताको नहीं प्राप्त हुए, बल्कि इन्द्रके समान सोह रहे हैं। पुनः, इन्द्र स्वर्गमें सकुटुम्ब सुखी, राघव यहाँ वैसे ही सुखी। पुनः, श्रीसीतालक्ष्मणजी उनके आज्ञानुवर्ती हैं, जैसे शची-जयन्त इन्द्रके।

**जोगवहिं प्रभु सिय लषनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥ १॥**
**सेवहिं लषन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥ २॥**
**एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी॥ ३॥**
**कहेउँ राम बन गवनु सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥ ४॥**

शब्दार्थ—गोलक=आँखका ढेला, आँखकी पुतली और उसके चारों तरफका सब भाग।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी लक्ष्मणजीकी एवं श्रीरामजी श्रीसीतालक्ष्मणजीकी कैसे रक्षा करते हैं, जैसे नेत्रोंके पलक गोलककी रक्षा करते हैं॥ १॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीता और रघुवीर श्रीरामजीकी एवं लक्ष्मणसीताजी रघुवीरकी इस तरह सेवा करते हैं* जैसे अज्ञानी (ज्ञानहीन) पुरुष शरीरकी (सेवा करता है)॥ २॥ इस प्रकार पक्षी-पशु-देवता और तपस्वियोंके हितकारी† प्रभु वनमें सुखपूर्वक वास कर रहे हैं॥ ३॥ मैंने श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर वनगमन कहा; अब जिस तरह सुमन्त्र अवधको आये सो सुनो॥ ४॥

नोट—एक प्रकारसे लक्ष्मणजी और विलोचन गोलक, प्रभु, सिय और (ऊपर नीचेके दोनों) पलक, लक्ष्मणजी और अविवेकी पुरुष सियरघुवीर और शरीर परस्पर उपमेय, उपमान हैं। दूसरे प्रकारसे प्रभु और पलक, सियलषन और गोलक, लक्ष्मण-सीता और अविवेकी पुरुष, तथा रघुवीर और शरीर परस्पर उपमेय-उपमान हैं। दीपदेहली न्यायसे यह अर्थ किया गया है। इनमेंसे कोई अर्थ त्याज्य नहीं। इस प्रकार श्रीसीताजीकी सेवा भी आ जाती है। अविवेकी पुरुष एकवचन और बहुवचन दोनों हो सकता है, *'सेवहिं'* क्रियाके विचारसे 'अविवेकी पुरुष' के लिये बहुवचनकी सम्भावना अधिक है; क्योंकि यहाँ आदरार्थ माननेकी गुञ्जाइश नहीं है। इन दोनों उपमाओंमें संख्या अभिप्रेत नहीं है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—आँखोंमें जब कोई बाहरी वस्तु तिनका, मिट्टी, पतंगा आदि पड़ने लगता है तो ऊपर नीचेकी पलकें तुरत उसे ढक लेती हैं कि वह वस्तु भीतर न जा सके। पलकें दो, श्रीराम-सीता दो। यहाँ दिखाया कि प्रभुको उनका दास कैसा है, जैसा पलकको गोलक।

टिप्पणी—२ *'अबिबेकी पुरुष सरीरहिं'* इति। (क) मोहमें लिप्त अज्ञानीको आत्माकी विस्मृति होनेसे वह शरीरको ही आत्मा मानकर इसकी खूब सेवा करता है, दिन-रात उसीके लालन-पालनमें लगा रहता है। वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामजीकी सेवामें दिन-रात लगे रहनेमें सुख मानते हैं, सेवामें अपने तनकी सुधबुध उनको नहीं रह गयी। तात्पर्य कि जो शरीरको सेते हैं, वे आत्माको भूले हैं और जो आत्माको सेते हैं उनको शरीरकी खबर नहीं रहती। (ख) *'एहि बिधि'*—जैसा ऊपर कहते आये हैं—*'जिमि बासव बस....'*

नोट—१ *'कहेउँ राम बन गवनु सुहावा'* इति। १—आदिमें मङ्गलाचरणमें **'न मम्ले वनवासदु:खत:'** कहा है तो फिर यहाँ *'बन गवनु सुहावा'* कथनसे पूर्वापर-विरोधका भान होता है। भाव यह कि वनवास दु:खदायी, है पर वह दु:ख प्रभुके मुखाम्बुजश्रीको मलिन न कर सका, क्योंकि प्रभु तो आनन्दघन हैं। उनको तो वनगमन सुखदायक मालूम होता था, उसे सुनकर उनका चित्त प्रसन्न हुआ। वे तो राज्यको अलानके समान समझते थे। पुन:, 'सुहावन' इससे कहा कि मगवासियोंको दर्शनका सुख मिला और मार्गभर प्रेममय-वार्तासे ही गूँज रहा था। वनगमन खग-मृग-सुर-मुनि सबको सुखदायक हुआ। वनमें प्रभु इन्द्रकी तरह सुखसे हैं इत्यादि। श्रीरामजीको वनवासहीकी चाह थी, अतएव—*'सुहावा'*। पंजाबीजीका मत है कि पितामरण, भरतागमन इत्यादि शोकमय हैं, उनकी अपेक्षा वनगमन सुहावना है।

नोट—२ *'चले जनक जननी सिरु नाई। सजि बनसाजु समाजु सबु....चले॥'* (७९) उपक्रम है और *'कहेउँ राम बन गवनु....'* उपसंहार।

## 'बिपिनगमन एवं चित्रकूट जिमि बस भगवाना'-प्रकरण समाप्त हुआ।

## *'सचिवागमन-नगर-नृपमरना'-प्रकरण*

*(कहेउँ राम बन गवनु सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥)*

**फिरेउ निषादु प्रभुहि पहुँचाई। सचिव सहित रथ देखेसि आई॥ ५॥**
**मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भएउ बिषादू॥ ६॥**

---

* प्रथम अर्थमें 'सीताराम' एक हैं।

† पक्षीपशु छबि देख मग्न, तपस्वी स्वतन्त्रतासे साधन करते और देवता यज्ञभाग पाकर सुखी।

**राम राम सिय लषनु पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥ ७॥**
**देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ ८॥**
**दो०—नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।**
**ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥ १४२॥**

अर्थ—जब निषाद (गुह) प्रभुको पहुँचाकर लौटा, तब आकर गुहने रथको मन्त्रीसमेत देखा॥ ५॥ मन्त्रीको व्याकुल देखकर निषादको जैसा दुःख हुआ वह कहा नहीं जाता॥ ६॥ हे राम! हे राम! हे सीते! हे लखन! ऐसा पुकार-पुकारकर जमीनपर बहुत व्याकुल पड़ा हुआ है। (अथवा, निषादको अकेला आया देखकर वह राम, राम राम-सिय-लखन ऐसा पुकारकर जमीनपर गिर पड़ा॥ ७॥ दक्षिण दिशाको देख-देख घोड़े हिनहिनाते हैं) (वा हिहिनाते हैं अर्थात् दुःखका शब्द करते हैं) मानो बिना पक्षके पक्षी व्याकुल हो रहे हैं॥ ८॥ न घास चरते हैं, न पानी पीते हैं, नेत्रोंसे जल गिर रहा है, रघुवरके सब घोड़ोंको देखकर सब निषाद व्याकुल हो गये॥ १४२॥

पु० रा० कु०—'*जनु बिनु पंख*' इति। बिना पक्षके पक्षी पराधीन होता है वैसे ही घोड़े बँधे हुए पराये वशमें हैं, नहीं तो प्रभुके पास चले जाते, जैसे पक्षीके पंख होते तो वह उड़कर जहाँ चाहे जा सकता। इससे अत्यन्त दीन होना दिखाया, यथा—'*जथा पंख बिनु खग अति दीना।*' (६। ६०। ९) (वाल्मी० २। ५९ में सुमन्त्रजीने अपने घोड़ोंकी दशा कही है कि श्रीरामके वन चले जानेपर जब मैं लौटा, तब मेरे घोड़े गर्म आँसू बहाने लगे और मार्गमें पहलेके समान न चले।—'**उष्णमश्रुविमुञ्चन्तो रामे संप्रस्थिते वनम्।**' (१) इनकी दशा गीतावलीमें श्रीकौसल्या अम्बाद्वारा कुछ वर्णन की गयी है।)

नोट—१ (क) '*फिरेउ निषादु*' से जनाया कि सुमन्त्र कई दिनतक गङ्गातटपर ही पड़े रहे। निषादराजके लौटनेपर वहीं मिले। एक तो शोकसे व्याकुल थे, दूसरे घोड़े भी चलते न थे, तीसरे आशा लगी रही कि श्रीरामजी मुझे साथ चलनेके लिये कदाचित् बुला लें। यथा—'**गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्। आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥**' (वाल्मी० २। ५९। ३) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि श्रीरामजी सुमन्तको विदा करके गङ्गापार गये। उस दिन वृक्षके नीचे निवास हुआ, दूसरे दिन भरद्वाजजीके आश्रममें ठहरे, तीसरे दिन यमुना उतरकर सरकारने निषादराजको विदा कर दिया, चौथे दिन निषादराज घर लौटे। तबतक सुमन्तजी ठहरे रहे। चक्रवर्तीजीने कहा था कि '*जब सिय कानन देखि डराई। कहेहु मोर सिख अवसर पाई॥*' पर वह अवसर सुमन्तजीको नहीं मिला, '*बरबस राम सुमंत पठाये।*' अतः इस कार्यका भार निषादराजपर दिया कि तुम इनके सङ्ग वनमें जाओ, सीताजी कह तो सब रही हैं, पर अभी इन्होंने घोर वन देखा नहीं है। देखनेपर अवश्य डरेंगी। तब तुम कह-सुनकर सीताजीको लौटा लाना। इसी बातकी प्रतीक्षामें सुमन्तजी अयोध्या नहीं लौटे। निषादके आश्रममें ही चार दिन ठहरे रह गये। जब निषादराज लौटे और सीताजीको नहीं देखा तो विकल हो गये। बची-बचायी आशापर भी पानी फिर गया। (ख) '*बिलोकि*'*बिषादू*'—(९०। ५) में निषादको विषाद होनेका भाव देखिये। विकल होना कहकर आगे '*राम राम*'*भारी*' से व्याकुल दशा दिखायी। (ग) '*देखि दखिन दिसि*' इति। दक्षिण दिशाकी ओर देखकर व्याकुल हो रहे हैं, क्योंकि इसी दिशामें श्रीरामजी गये हैं। अथवा, धर्मराजका निवास दक्षिणमें है, अतः उधर देखकर मानो उनसे मृत्यु माँगते हैं। (पं०) अथवा, देखते हैं कि हमारे प्राणप्यारे हमारी दशा देखकर आ तो नहीं रहे हैं; प्राणप्यारे कहाँ चले गये।

**धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू॥ १॥**
**तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता॥ २॥**
**बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी॥ ३॥**

**सोक सिथिल रथु सकै न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥ ४॥**
**चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहु आनि रथ जोरे॥ ५॥**
**अढुकि* परहिं फिरि हेरहिं पीछे। रामबियोग† बिकल दुख तीछे॥ ६॥**
**जो कह रामु लषनु बैदेही। हिकरि हिकरि हित हेरहिं तेही॥ ७॥**
**बाजि बिरह गति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती॥ ८॥**

अर्थ—धैर्य धारण करके तब निषाद कहने लगा—'सुमन्त्रजी! अब शोक छोड़ो॥ १॥ तुम पण्डित हो, परमार्थके जाननेवाले हो। विधाता (दैव) को विमुख (प्रतिकूल) जानकर धीरज धरो'॥ २॥ कोमल मीठी वाणीसे तरह-तरहकी अनेक कथाएँ कह-कहकर (जब इतनेपर भी धीरज न हुआ तब) जबरदस्ती उन्हें लाकर रथमें बिठाया॥ ३॥ शोकके मारे (सब अङ्ग) शिथिल (ढीले) पड़ गये हैं, अतएव रथको हाँक नहीं सकता, हृदयमें रघुवरविरहकी बड़ी बाँकी (तीव्र, तीक्ष्ण) पीड़ा है॥ ४॥ घोड़े चड़फड़ाते-छटपटाते हैं (दुःखसे लोटना-पोटना, अति व्याकुल होना छटपटाना है), रास्तेपर चलते नहीं, मानो जङ्गली पशु लाकर रथमें जोड़े गये हैं॥ ५॥ ठोकर लेते हैं, गिर-गिर पड़ते हैं, फिर-फिरकर पीछे देखते हैं। श्रीरामचन्द्रजीके वियोगके तीक्ष्ण (कठिन) दुःखसे व्याकुल हैं॥ ६॥ जो कोई 'राम-लक्ष्मण-वैदेही' ऐसा कहता है अर्थात् इनका नाम लेता है तो घोड़े प्रेमसे उसकी ओर कराह-कराहकर देखते हैं॥ ७॥ घोड़ोंके विरहकी दशा कैसे कही जा सकती है? जिस प्रकार मणिके बिना सर्प व्याकुल हो (ऐसी दशा है)॥ ८॥

टिप्पणी—*'धरि धीरजु'* धैर्य धारण करनेमें ये बहुत निपुण हो गये, सम्भवतः यह आचार्य लक्ष्मणजीके उपदेशका फल है। भरतमिलाप होनेपर भी इन्होंने प्रथम धैर्य धारण किया था और श्रीरामजीको गुरु वसिष्ठादिके आगमनकी सूचना दी थी।

वि० त्रि०—*'धरि धीरजु'' बिषादू।'* सुमन्त्रकी दशा देखकर निषादराजका भी धैर्य छूट गया, पर उसने धैर्य धारण करके सुमन्त्रसे कहा कि 'भाई, अब विषादको छोड़ दो। जो होना था सो हो गया। तीनों मूर्त्तियाँ वनको चली गयीं, चौदह वर्षतक नहीं लौटेंगी। मुझे भी पता न रहे कि कहाँपर हैं; इसलिये जहाँपर ठहरेंगे वहाँ पहुँचकर पर्णकुटी बनानेतकका अवसर नहीं दिया। यमुनापारसे ही लौटा दिया। यह कथा तो समाप्त हो गयी। अतः विषाद छोड़कर आगे जो कुछ करना हो करो।

टिप्पणी—१ *'अब सुमंत्र''* इति। *'अब'* का भाव कि तुम तो सुन्दर मन्त्र (सलाह) के देनेवाले हो, प्रथम ही चूक गये, सँभाल न सके, इनको वन कैसे होने दिया, फिर जब वे वनको चल ही दिये, तब तुम साथ क्यों आये, यह भी न बना। यह भगवान्‌की गति ऐसी ही है, किसीके समझमें नहीं आती। यह समझकर 'अब' धैर्य धारण करो। (पुनः, भाव कि शोक करते तुम्हें कई दिन हो गये, तुम्हें अवध जाना है, सन्देश कहना है; अतः 'अब' शोक छोड़ो। पुनः, 'अब' हमको देखकर शोक छोड़ो। हम उनके कुशल-समाचार लाये हैं। उनको कोई क्लेश नहीं है। पं०)

टिप्पणी—२ (क) *'तुम्ह पंडित परमारथग्याता'* इति। पण्डित अर्थात् शास्त्रवेत्ता और बुद्धिमान् हो, सोचो कि जो पिताके वचनोंको मानकर वनको चले हैं वे भला कब लौट सकते हैं? परमार्थज्ञाता हो अर्थात् जानते हो कि यह अवतार ही इसीलिये हुआ है। अतएव शोक करना व्यर्थ है। (ख) ***'बरबस आनी'*** से जनाया कि वे रथसे दूर पड़े थे। *'रघुकुल तिलक चले'* और ये खड़े देखते रहे, जब ओझल हो गये, तब वहीं तटपर मूर्छित हो गिर पड़े। यथा—*'रघुकुलतिलक चले एहि भाँती। देखउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥'* (१५३। २)

---

* पाठान्तर—अटकि, उढ़कि। † वियोग-राजापुर। 'राम बियोगि' पाठका अर्थ होगा—'वे रामवियोगी घोड़े'। 'वियोग' प्रायः अन्य सबोंने दिया है।

टिप्पणी—३ '*बनमृग मनहु आनि रथ जोरे*' इति। जङ्गलसे जैसे कोई घोड़े या और पशु लाकर रथमें जोते जायँ तो वनकी ओर भागते हैं, एड़ें मारते, चलाते हैं कि उससे छूट भागें, वे रथ चलाना क्या जानें ? वैसी ही दशा इन घोड़ोंकी है। वे रथ चलाना भूल गये हैं, ठोकर लेते हैं, गिर पड़ते हैं।

टिप्पणी—४ (क) '*रामबियोग बिकल*'। देखिये सुमन्त्रजीके प्रसङ्गमें '*रघुबर बिरह*' पद दिया है और घोड़ोंके सम्बन्धमें '*रामबियोग*' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रघुवर रामकुमार हैं, अपने राजाके पुत्र और कुलमें श्रेष्ठ हैं; इससे उनके विछोहसे मन्त्री दुःखी है। और, ये राम हैं, सबमें रमे हैं, घोड़ोंमें भी वही राम हैं, अतः उनके वियोगसे ये छटपटाते हैं। इसी सम्बन्धसे आगे कहते हैं कि '*बाजि बिरह गति कहि किमि जाती*' अर्थात् जिसे राम मिले हों और फिर बिछुड़ें वही जान सके और चाहे कुछ कह सके, हम क्या कहें, फिर भी कुछ कहते हैं। अथवा, '*कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥*' (२४१। ४) घोड़े तो मूक हैं, कुछ कहते नहीं, तब उनके विरह-दुःखकी दशा कैसे कही जाय? (ख) '*बिनु मनि फनिक*'''—इसके सर्वस्वका नाश कहा, सर्पके लिये मणि सर्वस्व है। सर्वस्वका नाश होनेसे जो दशा होती है वही दशा है। मणिहीन हो जानेसे सर्प व्याकुल विह्वल जीवन बिताता है। '*मनि लिए फनि जियै ब्याकुल बेहाल रे।*'

**दो०—भएउ निषादु बिषादबस देखत सचिव तुरंग।**
**बोलि सुसेवक चारि तब दिए सारथी संग॥ १४३॥**
**गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरह बिषादु बरनि नहिं जाई॥ १॥**
**चले अवध लेइ रथहि निषादा। होंहिं छनहि छन मगन बिषादा॥ २॥**

अर्थ—मंत्री और घोड़ोंको देखकर निषादराज शोकके वश हो गये। तब चार उत्तम सेवकोंको बुलाकर सारथी (सुमंत्रजी) के साथ कर दिये॥ १४३॥ गुह सारथीको पहुँचाकर लौटा, विछोहका दुःख कहा नहीं जाता॥ १॥ निषाद लोग रथको लेकर अवधको चले। क्षण-क्षणपर दुःखमें डूब जाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ '*सुसेवक*' अर्थात् जो सुमन्त्रजी और घोड़ों दोनोंकी सेवा-शुश्रूषा कर सकें, ठीकसे अवध पहुँचा दें। चार सेवक दिये क्योंकि चार घोड़े हैं, एक-एकको थामे हुए लीकपर लिये हुए ले जायँगे। ये निषाद हैं, हिंसक जीव हैं, तथापि इनके दुःखसे दुखी हो जाते हैं, तब दूसरोंका क्या कहना?

वि० त्रि०—'*चले अवध*''*बिषादा*' इति। सुमन्तकी तो यह दशा है कि '*सोक सिथिल रथ सकै न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥*' घोड़ोंकी यह दशा है कि '*चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥*' तब रथ चलता कैसे है ? अतः निषादराजने चार सेवक साथ कर दिये। वे ही सेवक रथको ठेले लिये जाते हैं। सो वे भी क्षण-क्षणपर विषादमें मग्न होकर ठहर जाते हैं।

**सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥ ३॥**
**रहिहिं* न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥ ४॥**
**भए अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहीं करत पयाना॥ ५॥**
**अहह मंद मनु अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥ ६॥**
**मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धनरासि गँवाँई॥ ७॥**
**बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥ ८॥**

अर्थ—दुःखसे दीन और व्याकुल हो सुमन्त्रजी सोच रहे हैं—'रघुवीरके बिना हमारे जीनेको धिक्कार है!'॥ ३॥ आखिर तो यह पापी शरीर रहेगा नहीं (एक दिन अवश्य छूटेगा) पर इसने रघुवीरके बिछुड़नेपर

* पाठान्तर—'रहहिं', रही। रहिहि—गी० प्रे०, रा० प०, राजापुर।

यश न लिया (अर्थात् रघुवर-वियोगमें शरीर छूट जाता तो यश मिलता कि सुमन्त्रका कैसा सच्चा प्रेम था कि बिछुड़ते ही शरीर छोड़ दिया)॥ ४॥ अब तो ये प्राण अपयश और पापोंके पात्र बने हैं, (न जाने) किस कारण नहीं चल देते॥ ५॥ हा! उफ! ओह! (ये बड़े दुःखके शब्द हैं) यह नीच मन मौका चूक गया! अब भी तो हृदय दो टुकड़े नहीं हो जाता (अर्थात् अब भी कुछ गया नहीं है, अब भी यश ले-ले सो भी नहीं)॥ ६॥ हाथ मल-मलकर सिरको हाथोंसे पीटकर पछताते हैं, मानो कोई कंजूस अपनी धनराशि ही खो बैठा है॥ ७॥ मानो वीरका बाना बाँधकर उत्तम वीर कहलाकर कोई उत्तम योधा लड़ाईमें जाकर भाग चला है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सोच सुमंत्र···टूका'* इति। शोचके कारण व्याकुल हैं और दुःखके कारण असमर्थ हैं। वे प्रथम 'जीव' (जीवन) को धिक्कारते हैं, फिर शरीरकी निन्दा करते हैं और तब प्राणोंकी कि रघुवीरसे पृथक् होकर जीवको न रहना था, शरीर पाञ्चभौतिक जड़ है, इसे छूट जाना चाहिये था और प्राण चेतन हैं, यह भी नहीं निकलते, कुछ हेतु अवश्य होगा; पर क्या कारण है, यह नहीं जान पड़ता। इसके पश्चात् मनको दोष देते हैं। कष्ट मनहीको जान पड़ता है, इसीसे उसके साथ *'अहह'* पद दिया। मन हृदय (अन्तःकरण) में रहता है, इससे हृदयको दूषण देते हैं कि क्यों नहीं दो टुकड़े हो जाता, तेरे टुकड़े होनेसे मनके भी टुकड़े हो जाते। फिर जीव और प्राणोंको भी अवश्य निकलना पड़ जाय।

टिप्पणी—२ *'भए अजस अघ···'* अर्थात् छूट जाता तो यश प्राप्त होता, न छूटा, इससे अब अपयशका पात्र बना। *'अहह'* इति कष्टे, बड़े आश्चर्यकी बात है।

* *'मनहु कृपिन धनरासि गँवाई॥'* इति। *

प्र० सं०—१ कृपण जो कौड़ी-कौड़ी जोड़-बटोरकर धन जमा करे और अपनी बेवकूफी (मूर्खता) से जुआ आदिमें सब गँवा दे।

२—राम-लक्ष्मण-सीता तीन हैं; अतः धनकी राशि कहा। तीनों हाथसे निकल गये, यही धनराशिका खो बैठना है। रथ लेकर बिठाकर साथ लौटानेके लिये आये थे, यही बेवकूफीसे गँवाना है। अवधवासियोंको तमसापर सोतेसे न जगा दिया। इत्यादि। [पुनः, भाव कि कृपणको धन बहुत प्रिय होता है। थोड़ा धन भी खो जानेसे उसको बहुत दुःख होता है, तब यदि उसकी धनकी राशि ही खो जाय तो उसके दुःखकी सीमा नहीं हो सकती। उसी तरह सुमन्त्र कृपण हैं। श्रीराम-जानकी-लक्ष्मणजी धनरूप उनको बहुत प्रिय हैं। तीनोंमेंसे एकके न लौटनेसे उनको बहुत दुःख होता और जब तीनों नहीं लौटे तब उनके दुःखकी सीमा न रह गयी। (श्रीनंगे परमहंसजी)]

३—दूसरी उत्प्रेक्षा बानेबन्द वीर योद्धाको देकर जनाया कि वीर योद्धाका यश दिग्विजय करके लौटने या सम्मुख मरनेमें है, यही उसकी शोभा है। रणमें भागना हँसीकी बात है, सबके सामने लज्जित होना पड़ता है। सुमन्त्रजी इनको लौटानेका बाना बाँधकर चले थे। राजाने इनको लौटा लानेके लिये भेजा था, इनपर पूर्ण विश्वास था कि तीनोंको नहीं तो श्रीसीताजीको तो अवश्य लौटा ही लावेंगे। सो ये किसीको न लौटा सके। प्रभुसे वाक्यसमरमें हारकर भागना ही पड़ा (बैजनाथजी)। [यहाँ सुमन्तजी सुभट हैं। 'वीर' रूप चतुर भी कहलाते थे। समररूप श्रीरामजीको बातचीतमें हराके विजयरूप लौटा लायेंगे, इसकी उनको खुशी थी। परंतु न तो श्रीरामजीको बातचीतमें हराके लौटा सके और न मरणरूप स्वयं वनको ही साथ गये; किंतु समरसे भागनेरूप खाली रथ लेकर अयोध्याको लौटे।' (श्रीनंगे परमहंसजी)] इससे अपयश हुआ। न लौटते, साथ रह जाते तो भी यश होता।

४—पहिली उत्प्रेक्षा धनहानिकी है, दूसरी यशहानिकी।

प० प० प्र०—१ (क) *'मनहु कृपिन···'* इति। कृपणका धनराशिपर सबसे अधिक प्रेम रहता है। *'लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'* इस उत्प्रेक्षासे जनाया कि श्रीरामजी सुमन्त्रजीको *'लोभिहि प्रिय जिमि दाम'* प्रिय थे, उनका सर्वस्व थे। श्रीरामजी तो मुनियोंके धन हैं पर सुमन्त्रजीकी धनराशि हैं। इससे सिद्ध हुआ

कि उनका प्रेम मुनियोंसे भी अधिक था। (ख) *'सुभट पराई'* से अपयशका डर सूचित किया। और *'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* होता ही है। इस तरह दूसरी उत्प्रेक्षासे जनाया कि उनको मरण कष्टसे भी अधिक दारुण दाह हो रहा है।

२ *'कृपिन धनरासि गँवाँई'* से *'धिग जीवन रघुबीर बिहीना'* को, *'समर सुभट पराई'* से *'भये अजस भाजन प्राना'* को और *'बिप्र बिबेकी'''* से *'भये अघ भाजन प्राना'* को स्पष्ट किया।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'मीजि हाथ'''दाहू'* इति। यहाँ सुमन्तजीकी मानसिक व्यथाका वर्णन है। जिस प्रकार शारीरिक व्यथाके अनेक भेद हैं, सिरका दर्द दूसरे प्रकारका होता है और पेटका दर्द दूसरे प्रकारका। आँख, नाक, कान सभीकी पीड़ाओंमें अन्तर है। इसी भाँति मानसिक पीड़ाओंमें भी भेद है। धनहानिसे एक प्रकारकी पीड़ा होती है, बदनामीसे दूसरे प्रकारकी पीड़ा होती है। धर्म चले जानेकी पीड़ा तीसरे प्रकारकी होती है, अनाथ होनेमें चौथे प्रकारकी पीड़ा है। एक-एक प्रकारकी पीड़ामें महान् कष्ट है, यदि चारों साथ हों, तो उसका वर्णन कौन कर सकता है। सुमन्तजीको चारों प्रकारकी एक साथ मानसिक पीड़ा हुई।

(१) *'मीजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धनरासि गँवाँई॥'* कृपण धनहानिसे दीन होकर सोचता है कि धनहीन जीवनको धिक्कार है; वैसे ही *'सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥'* उनके रघुवीर ही धनसर्वस्व थे। यह उदाहरण वैश्य-सम्बन्धी है।

(२) *'बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥'* वह सोचता है कि अन्तमें भी तो शरीर नहीं रहेगा फिर समरमें शरीर छोड़कर यश मैंने क्यों नहीं लिया? वैसे ही सुमन्त्रजी सोचते हैं कि *'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू॥'* यहाँ रघुवीरका बिछोह ही समर था। यह उदाहरण क्षत्रियसम्बन्धी है।

(३) *'बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥'* वह श्रोत्रिय ब्राह्मण सोचता है कि मेरे प्राण अपयश और अघके भाजन हो गये, अब इनके छोड़ देनेमें ही भलाई है, वैसे ही सुमन्त्रजी सोचते हैं कि *'भये अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना॥'* सुमन्तजी सोचते हैं कि मैं मन्त्री हूँ, मुझे समझना चाहता था कि मैं श्रीरामजीको वन पहुँचाने जा रहा हूँ, मुझे इतना बड़ा धोखा हुआ कि मैं यही समझता रहा कि मैं लौटानेके लिये जा रहा हूँ। मेरेमें मन्त्री होनेकी योग्यता नहीं रह गयी। श्रीरामजीको वन पहुँचा दिया, मुझ-सा पापी कौन है? यह उदाहरण ब्राह्मणसम्बन्धी है।

४—*'जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी। रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥'* वह सोचती है कि 'हाय रे! मुझसे बड़ी चूक हुई, मैं पतिके साथ सती क्यों न हो गयी, वैसे ही सुमन्त्रजी सोचते हैं—*'अहह मंद मति अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥'* यह उदाहरण पतिव्रता-सम्बन्धी है।

**दो०—बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति।**
**जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥ १४४॥**
**जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम मन बानी॥ १॥**
**रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥ २॥**

शब्दार्थ—'**बेदबिद**=वेदज्ञ, वेदपाठी, वेदवेत्ता। **संमत साधु**'=साधु आचरणवाला।

अर्थ—जैसे कोई विवेकी वेदवेत्ता साधु सम्मत और उत्तम जातिका ब्राह्मण धोखेसे मदिरा पीकर पीछे पछतावे उसी प्रकार मन्त्री सोच कर रहा है॥ १४४॥ जैसे कोई उत्तम कुलवाली, साधु, सयानी, मन, कर्म और वचनसे पतिको ही देवता माननेवाली पतिव्रता स्त्रीको संस्कारवश स्वामीको छोड़कर अलग रहना पड़े तो उसे कितना कठिन दुःख होगा, वैसा ही मन्त्रीके हृदयमें कठिन दुःख है॥ १-२॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—'*बिप्र बिबेकी बेदबिद*···' इति। जो पुरुष ब्राह्मण, विवेकी ज्ञानवान्, वेदवेत्ता, साधुसम्मत, सुजाति ऐसा पाँच श्रेष्ठ गुणयुक्त हो उसको किस प्रकारका धोखा हुआ?

ये मन्त्री हैं, राजाको उपदेश करते कि किस अपराधसे श्रीरामको वनवास देते हो। वहाँ भूले। जब वनवास हुआ। श्रीरामजीने उसे अङ्गीकार कर लिया। वे सत्यसन्ध पिताके वचन मानकर अपने धर्मपर आरूढ़ हैं, फिरें तो अधर्मी कहलायें, राजा भी अधर्मी कहलायें। सतीशिरोमणि श्रीसीताजी तथा सेवक धर्मनिष्ठ लक्ष्मण साथ हैं। इन सबोंको फेरना चाहते हैं; यह उनको धर्मसे च्युत करना है। फेरनेका कारण स्नेह है; यही मदिरा-पान है। यथा—'*रामसनेह सुरा सब छाके*' स्नेहरूपी मदिरा पीकर सावधान न रहे। फेरकर ले चलें, यदि मदिरा-पान करके अचेत असावधान होना है। बड़े पायेपर चढ़कर गिरे।

'*बेदबिद संमत साधु*'—वेदपाठी ही नहीं हैं वरन् जो वेदविधि और पाठ हो उसमें सम्यक् मत है; साधु सन्मार्गवर्ती है। वा साधुसम्मत है।

गौड़जी—ब्राह्मणको सुरा वर्जित है। विवेकी पुरुषके नजदीक वह अपेय है। वेदवित् सौत्रामणि यज्ञमें ही सुरा और सोमयागोंमें सोमपान करेगा। शेष सब प्रकारसे सुरापान अविहित है। साधुसम्मत आचरण करनेवाला सुरापानको पातक समझेगा और अच्छी जातिका मनुष्य अविहित सुरापानको अपनी जातिकी उच्चताका बिगाड़नेवाला समझेगा। इस प्रकार एक गुणसे भी युक्त पुरुष सुरापान न करेगा। परंतु जहाँ पाँचो गुण हैं वहाँ जान-बूझकर सुरापान तो असम्भव है। यदि इन पाँचों गुणोंसे युक्त पुरुष कहीं धोखेसे मदिरापान कर जाय तो उसके मनस्तापका कुछ ठिकाना न रह जायगा। उसको जितना परिताप होगा उतना ही सुमन्तको हुआ। सुमन्त ब्राह्मण भी थे, विवेकी थे, वेदविद् थे, साधु-सम्मत थे और सुजाति थे। ब्राह्मणकी दृष्टिसे वह राजा दशरथको समझाते कि आप अपने सत्यकी तो रक्षा करते हैं। परंतु श्रीरामचन्द्रजीकी कर्तव्यनिष्ठामें अपने प्रेमाग्रहसे क्यों बाधक होते हैं। विवेकी थे। अपने कर्तव्याकर्तव्यका इन्हें ज्ञान था। परंतु देवमायावश धोखेमें आ गये। इन्होंने अपने कर्तव्यका पालन न किया। वेदविद् थे। मर्यादा-पुरुषोत्तमके रहस्यसे अनभिज्ञ न थे, फिर भी कर्तव्यविमूढ़ हो गये। वे साधुसङ्गत थे, परंतु उन्हें किसीसे सलाह लेनेका अवसर भी न मिला। और सुजाति थे अर्थात् राजमन्त्रीके पदपर थे। वे राजाको समयपर उस झंझटसे बचनेकी सलाह दे सकते थे, परंतु न दे पाये। और अन्तमें वनसे वनको ही पहुँचाकर खाली हाथ लौटा आना इन्हें बदा था। इस प्रकार हर तरहपर धोखेमें अर्थात् देवमायामें पड़कर वे संकटापन्नभावीसे बचनेकी कोशिश न कर सके। यही धोखेसे मदिरापान हुआ। और जैसे कण्ठसे नीचे उतारनेके बाद इस तरह धोखेमें पड़ जानेवालेके लिये कोई इलाज बाकी नहीं रहता, उसी तरह सुमन्तके लिये भी कोई इलाज बाकी न रहा। होनी होकर ही रही।

बैजनाथजी—'*बिप्र बिबेकी*···'। मदिरा पी ले, पीछे जाने कि यह मदिरा थी तो उसे मरणका-सा दुःख होता है। सुमन्त्रने कैकेयीके कहनेसे रामजीको बुलाकर उसके सामने खड़ा कर दिया। पहले तिलक कर देते, तब राजाके पास ले जाते। फिर राजाके कहनेसे रथपर ले गये, तमसा-तटसे तीनोंको पुरवासियोंसे छिपाकर ले गये। यह सब धोखा ही खाते गये। यही मदिरापान है।

श्रीनंगे परमहंसजी—विवेकी अर्थात् विचारवान्। **बेदबिद**=वेदज्ञ=अपने कर्मको जाननेवाला। ऐसा विवेकी आदि गुणविशिष्ट विप्र तृषाके वेगमें जलके भ्रमसे मदपान कर जाय और पीछे शोचमें पड़े कि मुझसे धोखा हो गया। मुझको चाहिये था कि पीनेके पहले यह विचार कर लिया होता कि यह जल कैसा है, क्योंकि विचारवान् जाँच करते हैं। सुजाति भी जलकी जाँच करते हैं कि यह जल किसका लाया हुआ है। ऐसा करनेसे धोखा नहीं होता, पता चल जाता कि यह जल नहीं है, मदिरा है। उसी तरह सुमन्त्रजी विचारवान् और शास्त्रके ज्ञाता थे, उत्तम मन्त्री भी थे, पर तृषारूप मोहमें पड़कर जलरूप श्रीरामजीको लौटा लानेके धोखेमें मदपानरूप गङ्गातटपर लेकर चले आये। जब श्रीरामजी नहीं लौटे तब उसी ब्राह्मणकी तरह सोचमें पड़ गये। सोचने लगे कि मैंने प्रथम ही विचार क्यों नहीं किया कि श्रीरामजी फिरेंगे या नहीं, क्योंकि वे सत्यसन्ध हैं। वे कैसे लौटेंगे। पुनः मैं किसका

भेजा हुआ उनको लौटा लाने जा रहा हूँ? श्रीरामजीको वनमें तो कैकेयीने भेजा है, यथा—*'मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥ नृपहिं प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ सुकृत सुजसु परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥ अस बिचारि सो करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुख पावा॥'* (७९। २—५) तब राजाके बुलानेसे कैसे लौट सकते हैं? लौटनेसे कैकेयी विरोध करेगी तब फिर और न जाने क्या हो! यदि मैंने प्रथम विचार किया होता तो लौटानेके लिये कदापि न जाता और न यह धोखा होता।

*'जिमि कुलीन तिय साधु सयानी।''''* इति।

टिप्पणी—२ पु० रा० कु०—उत्तम कुलकी, साधु अर्थात् सन्मार्गवर्तिनी, सयानी अर्थात् पण्डिता, चतुर, पतिदेवता अर्थात् पातिव्रत्य धर्मकी जाननेवाली है, पतिको ही कर्म, मन, वचनसे अपना इष्टदेव समझती है, यथा—*'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा'*—ऐसी स्त्री जैसे कर्मवश अपने पतिको छोड़ पराये पुरुषको भजे और पीछे पछताये, वैसा ही तीव्र पश्चात्ताप मन्त्रीको हो रहा है। यह कुल प्रसङ्ग राम-विमुख होनेका है। श्रीरामसे विमुख होना ऐसा ही है। ईश्वर जीवका पति है। राम-विमुखका प्रसङ्ग कहकर दूषण दे रहे हैं। (पूज्य कविने *'रहे'* पद दिया है। इससे पतिव्रता स्त्रीका भाग्यवश पतिको छोड़ना जनाते हैं, जैसे मुकदमेंमें फँस जानेसे, समरमें बाहर जानेसे, रोगमें डाक्टरकी मनाहीसे, गर्भवती होनेसे, पतिकी आज्ञासे, सती न होनेसे, इत्यादि सभी तरहका वियोग इसमें आ जाता है। पर-पुरुष-गमन कुछ भोंडा-सा जान पड़ता है, चाहे उस भावका भी समावेश उसमें हो जाय। परमसती प्रायः ऐसी दशामें प्राण दे देगी, पर-पुरुष-संग न करेगी। सुमन्त्रजी रामजीके मन-वचन-कर्मसे अनन्यप्रेमी हैं, सङ्ग छोड़नेपर भी अनन्य हैं।)

पंजाबीजी—*'परिहरि नाहू'* का भाव यह कि स्वामीके मरनेपर सती न हुई, पीछे पछताती है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—कर्मवश अर्थात् पतिकी आज्ञावश पतिको छोड़कर रह गयी, पतिके साथ चितामें जलकर पतिके सङ्ग न गयी। पीछे जैसे उसको पतिके साथ न जानेसे बहुत भारी दाह उत्पन्न होता है, वैसे ही सुमन्त्रजीको श्रीरामजीके साथ न जानेसे हृदयमें कठिन दाह उत्पन्न हुआ। यथा—*'मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥'* (९९। ७)

पतिव्रता स्त्रीके लिये पतिके सङ्ग परदेश जानेमें कर्म बाधा नहीं कर सकता। पुनः, जब चोरी आदिकी सजासे पतिके जेलमें जानेपर समस्त स्त्रियोंको दुःख होता है तो सुजान और कुलीन साधु पतिव्रता आदि विशेषण क्यों दिये? अतः पतिव्रता स्त्रीके लिये साधारण वियोगका अर्थ लगाना असङ्गत है। पुनः 'सती स्त्रीका परपतिमें मन जाना निज पतिको छोड़ना' अर्थ करना महा अयोग्य है। यथार्थ यह है कि पतिके मर जानेपर कर्मवश पतिकी आज्ञासे गर्भवती होनेके कारण रह गयी, पतिके सङ्ग न गयी, उसको न जानेसे कठिन दाह हुआ। प्रमाण—राजा बलिकी माता (विरोचनकी स्त्री) को उसके पतिने मरते समय आज्ञा दी थी कि तुम सती न होना, तुम्हारे गर्भमें जो बालक है वह रामभक्त होगा। अतः वे सती न हुईं, पर इसका उन्हें कठिन दाह हुआ।

प० प० प्र०—इस दृष्टान्तसे जनाया कि रामविरहमें लङ्कामें श्रीसीताजीकी जैसी स्थिति हुई है वैसी ही यहाँ सुमन्त्रजीकी हुई। *'चलेउ समर जिमि सुभट पराई'* भी दारुण दाहसूचक है और यहाँ भी *'दारुण दाह'* का उल्लेख ही है। अतः इस पतिव्रताके दृष्टान्तसे जनाया कि लोकनिन्दापात्र बन जायँगे। इसका भी डर है, ऐसी पतिव्रताका पति स्वयं परित्याग करेगा, यह भीति भी लगती है। (पर मूलमें *'रहे परिहरि नाहू'* पाठ है)।

गौड़जी—दूसरा दृष्टान्त दारुणदाहके लिये है। पहला शोकका था। करुणारसका स्थायी भाव शोक है। यह तो स्थायीरूपसे सचिवके हृदयमें मौजूद है। साथ-ही-साथ दुःख-दाह-ग्लानि आदिका भी संचार हो रहा है। दारुण दाहका दृष्टान्त साधुकुलीन चतुर और उस पूर्ण पतिव्रता स्त्रीसे देते हैं जिसे कर्मवश पतिसे अलग रहना पड़े। यहाँ मन्त्रीको अपने स्वामी रामचन्द्रजीको कर्मवश छोड़ आना पड़ा है। सुमन्त्रको उसी तरहका दारुण दाह है जैसा उस पतिदेवता स्त्रीको।

बैजनाथजी—सुमन्त्रजी मन-कर्म-वचनसे रामप्रेमी थे, सो भावीवश कैकेयीके धोखेमें आकर वनवासके कारण बने, अब दारुण दुःख उठा रहे हैं।

**लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥ ३॥**
**सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥ ४॥**
**बिबरन भएउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहु पिता महतारी॥ ५॥**
**हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जम-पुर-पंथ सोच जिमि पापी॥ ६॥**
**बचनु न आव हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई॥ ७॥**
**राम रहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई॥ ८॥**

**दो०—धाइ पूछिहहिं मोहि जब बिकल नगर नर नारि।**
**उतरु देब मैं सबहि तब हृदय बज्र बैठारि॥ १४५॥**

शब्दार्थ—लाटी लगना=मुँह, ओष्ठ और थूकका सूख जाना।

**अर्थ**—नेत्रोंमें जल भरा है, दृष्टि कम हो गयी, कानोंसे सुनायी नहीं देता, व्याकुल होनेसे बुद्धि भोली बावली हो गयी अर्थात् ठिकाने नहीं रह गयी॥ ३॥ ओष्ठ सूख रहे हैं, मुँहमें लाटी लग गयी (यह बोली है। ये सब असाध्य लक्षण हैं, प्राणान्त होनेके लक्षण हैं तब भी) प्राण नहीं निकलते, क्योंकि हृदय-(रूपी कोठरी-) में अवधिरूपी किवाड़े लगे हैं, (अर्थात् १४ वर्ष बीत जानेपर फिर मिलेंगे) इस आशामें प्राण नहीं निकलते॥ ४॥ वे पीले पड़ गये हैं, देखे नहीं जाते, मानो माता-पिताको मार डाला है (वह हत्या सवार है)॥ ५॥ महान् हानि और ग्लानि वा महान् हानिकी महान् ग्लानि मनमें व्याप्त हो गयी है; जैसे कोई पापी नरकको जाते हुए मार्गमें शोच करे॥ ६॥ मुखसे वाक्य नहीं निकलता, हृदयमें पछता रहे हैं—मैं अवधमें जाकर क्या देखूँगा?॥ ७॥ जो कोई भी रथको रामसे रहित देखेगा वह मुझे देखकर सकुचेगा॥ ८॥ जब नगरके स्त्री-पुरुष व्याकुल दौड़कर मुझसे पूछेंगे तब मैं हृदयपर वज्र रखकर सबको उत्तर दूँगा॥ १४५॥

टिप्पणी—१ प्रथम नेत्रोंका सजल होना कहा, तब दृष्टिका कम होना, क्योंकि आँसू भर जानेसे आँखोंसे सुझाई नहीं पड़ता। देख नहीं पड़ता और जो कोई कुछ कहना या समझाना चाहे तो वह भी व्यर्थ, क्योंकि उसे सुनायी ही नहीं पड़ता। बावले हो रहे हैं सुनें भी तो समझेंगे कैसे? न कुछ कहनेका सामर्थ्य है, यह आगे कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी'* इति। अर्थात् *'कठिन करम गति कछु न बसाई'*—कर्मवश १४ वर्षतक दुःख भोगना पड़ेगा। जीवका स्थान हृदय है, किंवाड़े लगे हैं, इससे वह निकल नहीं सकता।

टिप्पणी—३ *'मारेसि मनहु पिता'''* इति। श्रीरामजीको वनमें छोड़कर अकेले अवध लौटनेपर ऐसे देख पड़ते हैं, मानो माता-पिताका वध इन्होंने किया है, पाप सवार है। श्रीरामजीसे विमुख लौटना ऐसे बड़े पापके भागी होनेके समान है। यहाँ राम पिता और सीता माता हैं। वनमें पहुँचा आना वध करना है। अधर्मीका लोग मुँह नहीं देखते, वैसे ही अधर्मीकी-सी इनकी शक्ल हो गयी है।

टिप्पणी—४ *'जमपुर पंथ सोच'''* इति। (क) पापीको जब यमदूत नरकको ले चले तब, यदि वह सोचे कि हमसे कुछ न बन पड़ा, अब मैं धर्मराजको क्या उत्तर दूँगा, इत्यादि। तो अब उसके सोच करनेसे क्या हो सकता है? रामरहित होनेसे अयोध्याकी यमपुरसे और सुमन्त्रकी पापीसे उपमा दी। ग्लानिसे अब हाथ कुछ नहीं लगनेका, *'समय चुके पुनि का पछिताने?'*

टिप्पणी—५ *'बचनु न आव''जाई'* इति। सुमन्त्रजीके हृदयसे जो बातें उठ रही हैं; वे कही नहीं जा सकतीं। मन-ही-मन पछता रहे हैं कि न जाने कौन-कौन-सा अनर्थ अवध पहुँचनेपर देखना है। उनके सामने प्रजाके हाहाकार, माताओंका विलाप और महाराजके तन-त्यागका दृश्य खड़ा हो गया; अतः कह रहे हैं कि *'अवध काह मैं देखब जाई'*। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—६ *'हृदय बज्र बैठारि'*—बैठारि=बिठाकर=जड़कर, जमाकर, जैसे घर आदिके बनानेमें पत्थर बिठाया जाता है। *'बैठारि'* का भाव कि जबतक ऐसा न किया जायगा उत्तर न दे सकूँगा। अर्थात् पुरवासियोंको उत्तर दे सकूँगा पर हृदय कठोर करना पड़ेगा। कलेजेपर पत्थर रखना मुहावरा है।

**पुछिहहिं दीन दुखित सब माता। कहब काह मैं तिन्हहिं बिधाता॥ १॥**
**पूछिहि जबहिं लषन महतारी। कहिहौं कवन सँदेस सुखारी॥ २॥**
**रामजननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई॥ ३॥**
**पूछत उतरु देब मैं तेही। गे बनु राम लषनु बैदेही॥ ४॥**
**जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब एहु सुखु लेबा॥ ५॥**
**पूछिहि जबहिं राउ दुख दीना। जिवनु जासु रघुनाथ अधीना॥ ६॥**
**देहौं उतरु कौन मुहु लाई। आएहुँ कुसल कुँअरु पहुँचाई॥ ७॥**
**सुनत लषन सिय राम सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू॥ ८॥**
**दो०—हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।**
**जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥ १४६॥**

अर्थ—सब दीन-दुःखी माताएँ जब पूछेंगी, हे विधाता! (तब) मैं उनसे क्या कहूँगा?॥ १॥ जब लक्ष्मणजीकी माता पूछेंगी तब मैं कौन सुखदायी संदेश कहूँगा? ॥ २॥ जब श्रीरामजीकी माता (इस तरह) दौड़ती आवेंगी जैसे नयी ब्याई हुई गाय बछड़ेकी याद करके दौड़कर आती है॥ ३॥ उस समय उनके पूछनेपर मैं उन्हें उत्तर दूँगा कि श्रीराम-लक्ष्मण-वैदेहीजी वनको चले गये?॥ ४॥ जो भी पूछेगा उसे मैं यही उत्तर दूँगा, अवधमें जाकर अब मैं यह सुख लूँगा?॥ ५॥ जब दुःखसे दीन राजा जिनका जीवन रघुनाथजीके (दर्शनके) अधीन है, पूछेंगे तब मैं कौन मुँह लाकर उत्तर दूँगा कि कुँअरको कुशलपूर्वक पहुँचा आया॥ ६-७॥ राम-लक्ष्मण-सीताका संदेश सुनकर राजा तिनकेकी तरह शरीर छोड़ देंगे॥ ८॥ प्रियतम श्रीरामरूपी जलके बिछुड़ते ही मेरा हृदय कीचड़की तरह फट न गया, इससे जान पड़ता है कि विधाताने मुझे यह यम-यातना-शरीर (पाप भोग करनेके लिये) दिया है॥ १४६॥

टिप्पणी—१ सुमन्त्रजीके जीमें संदेह-पर-संदेह उठते जाते हैं; उन्हींका वर्णन कवि कर रहे हैं। एक तो यही था कि पुरवासियोंको उत्तर कैसे देंगे, पर इस संदेहका निवारण कर लेते हैं कि इनके लिये काफी जवाब है कि श्रीरामजी नहीं आये तो भरतजी तो हैं, वे तुम्हारा पालन करेंगे, यद्यपि उनको भी उत्तर देनेमें कलेजेपर वज्र रखना पड़ेगा। दूसरा संदेह सात सौ माताओंका है। उनमें भी फिर संदेह श्रीसुमित्राजीका है, जो परम भागवत लक्ष्मणजीकी माता हैं। उसपर भी फिर कौसल्याजीका सोच जिनके द्वारा श्रीरामजीका आविर्भाव ही हुआ—इतना सोचकर वे सोचते हैं कि जो ही पूछेगा उसीको उत्तर देना पड़ेगा, इससे संदेह होता है कि तो क्या हम इसीलिये साथ गये थे कि रामको वनमें पहुँचा आवें और लौटकर संदेशा सबसे कहें! छठा संदेह राजाके प्रश्नका है।

टिप्पणी—२ *'जोइ पूछिहि'''* इति। शंका—*'जोइ'* से किससे तात्पर्य है, पुरवासी सभी दोहेंमें आ गये, सब माताएँ आ गयीं, फिर सुमित्रा-कौसल्याजीको पृथक् करके भी कह दिया, क्योंकि दोनोंके पुत्र वनको गये हैं, आगे राजाको भी कहा है। रहा ही कौन जिसके लिये कहते हैं कि *'जोइ पूछिहि'''*? उत्तर—यह केकयी है। इसका नाम वे नहीं लेते। ऐसी राम-विमुखाका नाम कौन ले? कैकेयीको संदेह अवश्य है कि सुमन्त्र लौटानेको भेजे गये हैं, वे उनको लौटाये न लाते हों। अतएव मुझे देखते ही वह अवश्य पूछेगी कि लौट आये कि गये? तब उसको भी उत्तर देना ही पड़ेगा, उससे भी बोलना ही पड़ेगा और

कहना पड़ेगा कि चले गये। उसे बड़ा सुख होगा, उसको सुखी देखकर कैसे सहा जायगा? बड़ा दारुण कष्ट होगा—वे सोचते हैं कि हा! उसको भी उत्तर देकर सुख पहुँचाऊँगा, ऐसा मेरा दुर्भाग्य है।

टिप्पणी—३ (क) *'पूछिहिं जबहि राउ दुखदीना'* अर्थात् राजा दुःखसे दीन हैं। उनका जीवन श्रीरामके बिना नहीं है, यथा—*'मैं न जियब रघुबीर बिहीना'*, *'जीवन मोर राम बिनु नाहीं'*, *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥'* तो उनको किस मुँहसे उत्तर दूँगा। और सबसे तो कह भी दूँ, पर ये तो सुनते ही प्राण छोड़ देंगे। (ख) *'कवन मुँह लाई'* अर्थात् इस मुँहसे तो कहने योग्य नहीं कि *'आएउँ कुसल कुँअरु पहुँचाई।'* और मुँह नहीं जिससे कह सकूँ *'आएउँ कुसल पहुँचाई'* अर्थात् फिर भी मैं जीता लौटा अथवा कुँवरको पहुँचा आया, वे बड़े सुखसे हैं। (ग) *'परिहरिहि नरेसू'* अर्थात् पशु-पक्षी पुरवासी जब ऐसे विकल हैं तो ये तो नरश्रेष्ठ हैं, सबके स्वामी हैं, भला ये शरीर क्यों न छोड़ देंगे—*'बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।'* (घ) *'तृन जिमि तनु परहरिहि नरेसू'* तक कहा कि क्या-क्या विचारकर सोच कर रहे हैं।

टिप्पणी—४ *'हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि'* इति। कीचड़ अत्यन्त नीच है, कमल, मछली आदि तो प्रथम ही चल देते हैं, मर जाते हैं, कीचड़ कुछ दिन बीत जानेपर फटता है। राम-वियोग होते हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाना चाहिये था, क्योंकि श्रीरामजीसे प्रियतम कोई नहीं है, पर वह न फटा। उत्तम कोटिका प्रेम तभी समझा जाता। खैर ऐसा न हुआ तो अब तो कई दिन हो गये, अब भी फट जाता, सो भी नहीं, यह नीच कीचड़से भी गया-गुजरा है। इससे अब यही निश्चय जान पड़ता है कि विधाता इसी शरीरसे हमें यमयातना—दण्ड-भोग कराना चाहता है। यातना-शरीर वह शरीर है जो मरनेके बाद मिलता है और जो पापकर्मोंका फल भोग करनेके लिये दिया जाता है। यह लिङ्गशरीर मोमका-सा होता है, काटनेपर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और फिर ज्यों-का-त्यों हो जाता है, पर कष्ट वैसा ही दुःसह होता है जैसा स्थूल शरीरके काटने-छेदने इत्यादिसे हो।

**एहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसा तीर तुरत रथु आवा॥ १॥**
**बिदा किए करि बिनय निषादा। फिरे पाय परि बिकल बिषादा॥ २॥**
**पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु बाभन गाई॥ ३॥**
**बैठि बिटप तर दिवसु गँवावा। साँझ समय तब अवँसरु पावा॥ ४॥**
**अवध प्रबेसु कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथु राखि दुआरे॥ ५॥**
**जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाए। भूप द्वार रथु देखन आए॥ ६॥**
**रथु पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे॥ ७॥**
**नगर नारिनर ब्याकुल कैसें। निघटत नीर मीनगन जैसें॥ ८॥**

अर्थ—सुमंत्रजी इस प्रकार रास्तेमें पश्चात्ताप करते (हुए जा रहे) हैं। (इतनेहीमें) तुरत तमसाके किनारे रथ आ पहुँचा॥ १॥ (तब सुमंत्रजीने) विनती करके निषादों-(सेवकों-) को विदा किया। वे चरणोंमें प्रणाम करके दुःखसे व्याकुल होकर लौटे॥ २॥ नगरमें घुसते हुए मन्त्री ऐसे सकुच रहा है मानो गुरु, ब्राह्मण और गऊका वध कर दिया हो॥ ३॥ पेड़के नीचे बैठकर उसने दिन बिता दिया। संध्या समय हुआ तब मौका मिला॥ ४॥ अंधेरेमें अवधमें दाखिल हुआ, प्रवेश किया। रथको दरवाजेपर रखकर महलमें प्रविष्ट हुआ॥ ५॥ जिन-जिन लोगोंने खबर सुन पायी वे राजद्वारपर रथ देखने आये॥ ६॥ रथको पहचानकर घोड़ोंको व्याकुल देखकर उनके शरीर ऐसे गल रहे हैं जैसे गर्मीसे (बर्फके) ओले॥ ७॥ नगरके स्त्री-पुरुष कैसे व्याकुल हैं? जैसे मछलियोंका समुदाय जलके घटनेसे व्याकुल हो॥ ८॥

नोट—*'एहि बिधि करत पंथ पछितावा'* उपसंहार है, *'बचनु न आव हृदय पछिताई'* उपक्रम है। सोचका

प्रसङ्ग *'जमपुर पंथ सोच जिमि पापी।'* (१४५। ६) पर उठाकर *'जानत हौं मोहि दीन्ह''जातना सरीरु।'* (१४६) पर समाप्त किया।

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि करत पंथ''आवा'* इति। पापी इसी प्रकार सोचता हुआ तुरत वैतरनी नदीके समीप पहुँचता है; वैसे ही ये सोचते-सोचते तमसापर पहुँच गये। तमसा मानो वैतरनी है। तम+सा=तमसे युक्त। निषाद इसे घाटतक पहुँचाकर लौटे, जैसे स्त्री-पुत्र-भाई-बन्धु घाटतक शरीरको पहुँचा देते हैं। साँसति तो इसीको सहना है। या यों कहें कि जैसे सतीको श्मशानतक पहुँचा देते हैं, सती तो उसीको होना पड़ता है। वैसे ही सुमन्त्रको वे पहुँचा गये, अब दारुणदाह तो इन्हींको होना है।

टिप्पणी—२ *'पैठत नगर'* इति। तमसातक पहुँचनेके बाद नगरमें प्रवेश करना कहते हैं। इससे जनाया कि तमसातक अयोध्या नगर है; उत्तर सरयू, दक्षिण तमसा। अतएव वहींसे 'नगर' पद दिया। (ख) *'सचिव'* पदका भाव कि ये सुन्दर मन्त्रके देनेवाले हैं तो भी ये ऐसा चूके हैं कि आज नगरमें प्रवेश करनेमें संकोच हो रहा है। (ग) अब 'संकोच' का स्वरूप कहते हैं। जैसे गुरु, ब्राह्मण और गायका वध करनेवाला हत्यारा पुरमें जाते सकुचे कि लोग क्या कहेंगे, मारे संकोचके वहाँ जा नहीं सकता। यहाँ राम गुरु, लक्ष्मण ब्राह्मण, सीता गऊ और तीनोंका त्याग, तीनोंको बनमें पहुँचा आना तीनोंके वधके समान है। (नोट—किसीका मत है कि राम ब्राह्मणके स्थानपर हैं, यथा—*'मम मूरति महिदेवमयी है'*। लक्ष्मण गुरु हैं, क्योंकि ये जीवोंके आचार्य हैं।)

टिप्पणी—३ *"साँझ समय तब अवसरु पावा"* इति। यह चाण्डाल समय है, न दिनमें न रातमें। गुरु-ब्राह्मण-गऊकी हत्या जिसे लगे, वह चाण्डाल है। अतएव वैसा ही समय तजबीज किया।

टिप्पणी—४ *'अवध प्रबेस कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन'''* इति। अँधियारे, क्योंकि नगरभरमें करुणा और शोक छाया है, किसीने दीपक नहीं जलाया। पहले *'पैठ भवन'''* कहकर पीछे *'रथ राखि'* पद देकर सुमन्त्रकी आतुरता दिखायी; मारे लज्जाके वे शीघ्र ही महलमें घुस गये।

टिप्पणी—५ *'समाचार सुनि पाए'* क्योंकि हरकारे लगे हैं कि सुमन्त्र गये हैं, उनके आते ही खबर दें, उन्हींसे सुना।

टिप्पणी—६ *'गरहिं गात जिमि आतप ओरे'* अर्थात् घोड़ोंके ऐसा पसीना चल रहा है, जैसे घामके ओले गलें। अथवा इस दृष्टान्तसे यह दिखाया कि यद्यपि घोड़े पशु हैं तथापि वियोग-तापसे गले जाते हैं। इससे यह भी जनाते हैं कि घोड़े श्वेत रंगके हैं।

टिप्पणी—७ *'नगर नारि'''* इति। जब पशुओंकी दशा ऐसी है तब नगरके स्त्री-पुरुषोंकी व्याकुलता कैसी होगी? 'नगर' पदसे जनाया कि नर-नारि नागर हैं। ये प्रेम और वियोग समझते हैं। नगर ४८ कोसका है, लोग बहुत हैं, अतः मीनगणकी उपमा दी। मछलीका जीवन जलहीतक है।

**दो०—सचिव आगमनु सुनत सबु बिकल भयेउ रनिवासु।**
**भवनु भयंकरु लाग तेहि मानहु प्रेतनिवासु॥ १४७॥**
**अति आरति सब पूछहिं रानी। उतरु न आव बिकल भइ बानी॥ १॥**
**सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृपु जेहि[1] तेहि बूझा॥ २॥**
**दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्यागृह गईं लवाई॥ ३॥**

शब्दार्थ—प्रेतनिवासु=श्मशान।

अर्थ—मन्त्रीका आना सुनकर सारा रनवास व्याकुल हो उठा। उनको राजभवन ऐसा भयावन लगा, मानो प्रेतका निवासस्थान है॥ १४७॥ सब रानियाँ बड़ी आर्त्त होकर पूछ रही हैं; पर सुमंत्रजीकी वाणी

१ यही पाठ प्रायः सर्वत्र मिलता है। गी० प्रे० 'तेहि-तेहि' पाठ राजापुरका बताता है।

विकल हो गयी है, कुछ उत्तर (मुँहसे) नहीं निकलता॥ १॥ कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता न आँखोंसे कुछ सूझता है, जिस-तिससे उसने पूछा कि कहो राजा कहाँ हैं?॥ २॥ दासियाँ मन्त्रीकी व्याकुलता देखकर उन्हें कौसल्याजीके महलमें ले गयीं॥ ३॥

पु० रा० कु०—१ (क) *'सब पूछहिं'*– सब एक साथ पूछने लगीं, क्योंकि सब दुःखसे अति आर्त्त हो रही हैं। (ख) *'बिकल भइ बानी'*—वाणी अर्थात् सरस्वती ही विकल हो गयी हैं, वचन कैसे निकले जो उत्तर दें। (विकल हो गयी अर्थात् शोकके मारे कण्ठ गद्‌गद हो गया, वाणी रुक गयी)। (ग) *'सुनइ न श्रवन'''* अर्थात् उन्हें एक यही धुन लगी है कि नृप कहाँ हैं, इसीसे कुछ और न सुनायी दे न सूझे। यहाँ इन्द्रियोंकी व्याकुलता दिखा रहे हैं।

नोट—*'कौसल्यागृह गईं लवाई'* इति। श्रीरामजीके चले जानेपर राजाने कैकेयीके महलमें रहना न स्वीकार किया। उसका त्याग तो प्रथम ही कर चुके थे—*'लोचन ओट बैठु मुहँ गोई।'* (३६। ६) वाल्मीकीयमें स्पष्ट उल्लेख है कि रामचन्द्रजीके चले जानेपर राजा दशरथ घरसे निकल पड़े कि मैं पुत्रको देखूँगा। वे होशमें न थे, दौड़ते थे। (२। ४०। २८) जबतक रथकी धूल देख पड़ी तबतक वे बेहोशीमें उछल-उछल धूल देखते रहे, फिर व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े। (४२। १—३) कौसल्या, कैकेयीने दाहिने-बायें जाकर उन्हें उठाना चाहा, पर कैकेयीको उन्होंने अंग स्पर्श करने न दिया। और उनका त्याग भी किया, यथा—'**कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये। नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी॥**' (४२। ६) **केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम्॥**' (७) विलाप करते-करते वे बोले, रामचन्द्रकी माता कौसल्याके घर हमें ले चलो और कहीं मुझे शान्ति न मिलेगी। तब लोगोंने उन्हें उठाकर वहाँ रख दिया था। (४२। २७-२८)

**जाइ सुमंत्रु दीख कस राजा। अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा॥ ४॥**
**आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना॥ ५॥**
**लेइ उसासु सोच यहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती॥ ६॥**
**लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥ ७॥**
**राम राम कह राम सनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही॥ ८॥**

अर्थ—सुमन्त्रने जाकर राजाको कैसा देखा—'जैसे मानो अमृतरहित होनेपर चन्द्रमा शोभित हो॥ ४॥ आसन, शय्या और आभूषणोंसे रहित अत्यन्त मलीन (मैले वेषमें उदास) पृथ्वीपर पड़े हुए हैं॥ ५॥ इस प्रकार लम्बी-ऊँची श्वास लेते और सोच कर रहे हैं, मानो ययाति राजा स्वर्गसे गिरे (साँसें लेते हैं और सोचमें पड़े हैं)'॥ ६॥ क्षण-क्षणपर सोचते छाती भर-भर लेते हैं, मानो पंखके जलनेपर सम्पाती गिरा पड़ा है॥ ७॥ राजा (बारंबार) राम, राम, प्यारे सनेही राम, ऐसा कहते हैं, फिर राम-लक्ष्मण-वैदेही ऐसा कहते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'अमिय रहित जनु चंद बिराजा'*। अमृतरहित चन्द्रमामें द्युति, प्रकाश, शीतलता आदि कोई गुण नहीं रहते, क्योंकि अमृत ही उसमें सार है। वैसे ही श्रीसीतारामरहित राजाकी दशा है। वे मलिन, तेजहीन, असमर्थ पड़े हैं। राम-वियोगमें यह दशा है, इसीसे *'बिराजा'* पद दिया। राम-विरहमें यह दशा सराहनीय है। इस शब्दको देकर राजाके विरहकी प्रशंसा कवि कर रहे हैं, उनका सम्मान किया है। '**चकई *साँझ समय जनु सोहीं।'*** (१२१। १) देखिये।

२ *'सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती'*। राजा ययाति पछताते हैं कि हा! हमारी सब बुद्धि कहाँ जाती रही थी, हमसे बड़ी मूर्खता हुई, हम इन्द्रके धोखेमें पड़ अहंकारसे अपने सुकृतकी सराहना कर बैठे, इत्यादि। इसी प्रकार राजा पछताते हैं कि हम कैकेयीके धोखेमें आ गये, बड़ी मूर्खता हुई, रामशपथ हमने कैसे कर ली, अहंकारमें आकर हमने सत्यकी प्रशंसा की। उसीका फल मिला कि हम रामराज्याभिषेक (मनोरथ) रूपी स्वर्गतक पहुँचकर वहाँसे गिरा दिये गये।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जैसे ययाति अपने पुत्र ( ? नाती अष्टक) के पुण्यफलसे फिर स्वर्गमें पहुँचे वैसे ही ये रामसे फिर मिलेंगे और भरतरूपी अष्टकद्वारा उनके प्रेमके पुण्य-प्रभावसे उनकी ग्लानि दूर होगी।

३ *'जनु जरि पंख परेउ संपाती'* इति। सम्पाती और जटायु अरुणके पुत्र हैं। पंखके जलनेकी कथा किष्किन्धाकाण्ड २८ (१-८) में स्वयं संपातीने कही है। जैसे वह *'परेउ भूमि करि घोर चिकारा'*—और मूर्खतापर पछताता रहा; वैसे ही राजा बारम्बार पछताते हैं कि स्त्रीके विश्वासमें पड़कर अपने कर्तव्यसे हमारी यह दशा हुई, हा-हा कर रहे हैं। श्रीराम और श्रीसीताजी दोनों पक्ष हैं। सम्पातीके पक्ष फिर जमे, श्रीराम, सीता रावणवधपर फिर मिलेंगे (स्वर्गसे दशरथजी रावणवध होनेपर आये हैं)।

## राजा ययातिकी कथा

महाभारत (आदिपर्व अ० ७०—८६)—राजा नहुषके छः पुत्रोंमेंसे ये दूसरे पुत्र थे। दक्षसे दसवीं पीढ़ीमें ये हुए। राज्य इन्हींको मिला। ये बड़े पराक्रमी और भक्त थे। वृषपर्वा दैत्यराजकी कन्या शर्मिष्ठाने देवयानीको कुएँमें गिरा दिया था। उसी समय दैवयोगसे ययाति प्याससे व्याकुल वहाँ पहुँचे। दाहिना हाथ पकड़कर उनको बाहर निकाल राजा अपने नगरको गये। इधर शुक्राचार्य और देवयानीको, बिगड़कर असुरोंको छोड़ते देख, शर्मिष्ठाने १००० दासियोंसहित देवयानीकी दासी होना स्वीकार किया। देवयानीका विवाह ययातिके साथ हुआ। इसके दो पुत्र हुए। उधर राजाने शर्मिष्ठाको अङ्गीकार करके उसमें तीन पुत्र उत्पन्न किये। देवयानीको जब पता लगा तब उसने शुक्राचार्यसे जाकर शिकायत की। इसपर उन्होंने राजाको शाप दिया कि तुम शीघ्र बूढ़े हो जाओ। राजा तुरत बूढ़े हो गये। राजाके प्रार्थना करनेपर शुक्राचार्यने शापानुग्रह यों किया कि दूसरेकी जवानी तुम अपना बुढ़ापा देकर ले सकते हो। राजाने अपने पुत्रोंसे एक-एक करके जवानी माँगी। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुने स्वीकार न किया तब उनको राजाने शाप दे दिया और सबसे छोटे पुत्र पुरुसे १००० वर्षके लिये विषय-भोगके लिये जवानी माँगी। इसने जवानी दे दी। राजाने आशीर्वाद दिया। १००० वर्ष व्यतीत होनेपर राजाको वैराग्य हुआ। उन्होंने पुरुकी जवानी लौटाकर उसको राजा बनाया तब ब्राह्मणोंने आकर उनसे कहा कि राज्य बड़े पुत्रको देना चाहिये था न कि छोटेको, आपको धर्मका पालन करना चाहिये। राजाने उत्तर दिया कि पिताका विरोधी पुत्र सज्जनोंकी रायमें पुत्र ही नहीं है। माता-पिताका आज्ञाकारी भक्त पुत्र ही सच्चा पुत्र है। शुक्राचार्यने भी ऐसा-ही वर दिया है। इसलिये तुम पुरुका राज्याभिषेक करनेमें विरोध न करो। सब प्रजा यह सुनकर सन्तुष्ट हुई। यवन तुर्वसुके वंशसे और म्लेच्छ अनुसे हुए। राजा ययाति १००० वर्षसे अधिक वानप्रस्थ आश्रममें रह तप करके स्वर्गको गये।

इन्द्रने राजा ययातिसे पूछा कि वनवास करके आपने किसके समान तपस्या की? राजाने अभिमानपूर्वक कहा कि देव, मनुज, महर्षि आदिमें मुझे अपनी तपस्याके समान किसीकी तपस्या नहीं देख पड़ती। इस तरह अपनेसे उत्तम और अपने बराबरवालोंका अपमान करनेके कारण राजाके पुण्य क्षीण हो गये और वे स्वर्गसे गिरा दिये गये। नन्दनवनसे गिरते समय देवता करुण स्वरसे उनके लिए शोक प्रकट करने लगे। उनकी कृपासे राजा अष्टक राजर्षिकी यज्ञभूमिमें आ टिके। अष्टकके पूछनेपर राजाने बताया कि तपस्या, दान, शान्ति, इन्द्रियदमन, लोकलज्जा, सरलता और दया—ये सात फाटक स्वर्गके हैं, पर अपने श्रेष्ठ होनेका अहंकार करते ही ये सातों मिट्टीमें मिल जाते हैं। अपने मुँह अपनी करनीका बखान करना अनुचित है। अष्टक राजा ययातिके नाती हैं। इनके पुण्यफलसे राजा ययाति फिर स्वर्गमें पहुँच गये, भूमिपर न गिरे।

प० प० प्र०—*'राम राम कह राम'*'। इति। रामनाम अमृत है। पहले तो रामनामका उच्चारण भी नहीं कर सकते थे। *(अमिय रहित जनु चंदु बिराजा)*। अब रामनामामृत मिला तब कुछ बोलनेकी शक्ति आ गयी, जिससे सुमन्त्रजीका वचन सुनते ही उठेंगे और पूछेंगे।

**दो०—देखि सचिव जयजीव कहि कीन्हेउ दंड प्रनामु।**
**सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति कहु सुमंत्र कहँ रामु॥ १४८॥**

**भूप सुमंत्रु लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई॥ १॥**
**सहित सनेह निकट बैठारी। पूछत राउ नयन भरि बारी॥ २॥**
**राम कुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लषनु बैदेही॥ ३॥**
**आने फेरि कि बनहि सिधाए। सुनत सचिव लोचन जल छाए॥ ४॥**

शब्दार्थ—जयजीव *'कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए।'* (२।५।२) देखिये।

अर्थ—मन्त्रीने देखकर जयजीव कहकर दण्डवत्-प्रणाम किया। राजा सुनते ही व्याकुल हो उठे (और बोले), कहो, सुमन्त्र! राम कहाँ हैं?॥ १४८॥ राजाने सुमन्त्रको हृदयसे लगा लिया, मानो डूबते हुए कुछ सहारा पा गये॥ १॥ प्रेमसमेत उन्हें पास बिठाकर नेत्रोंमें जल भरकर राजा पूछ रहे हैं॥ २॥ हे सखा! हे स्नेही! रामका कुशल-समाचार कहो। रघुनाथ, लक्ष्मण और वैदेही कहाँ हैं?॥ ३॥ उन्हें लौटा लाये हो कि वे वनको चल दिये। सुनते ही मन्त्रीके नेत्रोंमें जल भर आया॥ ४॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'बूड़त कछु अधार'''* इति।—*'कछु'* का भाव कि परिपूर्ण आधार नहीं है, जिससे बच जायँ, कुछ अवलम्ब मिला है फिर तो डूबेंगे ही।

टिप्पणी—२ *'सखा सनेही'* अर्थात् तुम हमारे बराबरके हो और हमारे विश्वासपात्र हो एवं स्नेही अर्थात् प्रेमके पात्र हो।

प० प० प्र०—*'सुनत सचिव'''* इति। राजाने तीन प्रश्न किये। एकका भी उत्तर देना अशक्य हो गया। आँखोंमें जो जल भर आया उसीने मानो तीनों प्रश्नोंका उत्तर दे दिया। राजा भी समझ गये कि तीनोंमेंसे कोई भी नहीं लौटा।

**सोक बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय राम लखनु संदेसू॥ ५॥**
**राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥ ६॥**
**राज* सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भएउ न हरषु हराँसू॥ ७॥**
**सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥ ८॥**

**दो०—सखा राम सिय लखनु जहँ तहाँ मोहि पहुँचाउ।**
**नाहि त चाहत चलन अब प्रान कहौं सतिभाउ॥ १४९॥**

अर्थ—शोकसे विकल होकर राजा फिर पूछते हैं—सीता, राम, लक्ष्मणका सन्देश (तो) कहो॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजीका रूप, गुण, शील-स्वभाव याद कर-करके राजा हृदयमें सोचते हैं॥ ६॥ हमने राज्याभिषेक सुनाकर वनवास दिया, यह सुनकर (रामजीके) मनमें न हर्ष ही हुआ न शोक॥ ७॥ ऐसे पुत्रके भी बिछुड़ते प्राण न निकले तो मेरे समान कौन बड़ा पापी होगा॥ ८॥ हे सखा! जहाँ राम-सीता-लक्ष्मण हैं वहीं मुझे पहुँचाओ नहीं तो, मैं सत्यभावसे कहता हूँ कि अब प्राण चलना चाहते हैं॥ १४९॥

पु० रा० कु०—१ *'सोक बिकल पुनि पूछ'* इति। बार-बार पूछनेका कारण व्याकुलता है। राजा समझ गये कि कोई नहीं लौटा; अतएव पूछते हैं कि नहीं लौटे तो कुछ कहा तो होगा, वही कहो।

नोट—*'रामरूप गुन''सतिभाउ'* इति। मिलान कीजिये गीतावलीके—*'मुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ। नारिबस न बिचारि कीन्हों काज सोचत राउ॥ १॥ तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यों न बिदर्‌यो समुझि सील सुभाउ॥ २॥ सीय रघुबीर लषनु बिनु भय भभरि भगी न आउ। मोहिं बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥ ३॥ सुनि सुमंत! कि आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ। दास तुलसी नतरु मोको मरन अमिय पिआउ॥'* (२। ४७) इस पदसे। समयपर मृत्यु होना अमृतके तुल्य है।

* राउ—राजापुर, गी० प्रे०।

वि० त्रि०—*'सखा राम सिय लषनु जहँ तहाँ……'* इति। बड़ी भारी शंका यहाँ यह खड़ी होती है कि राजाकी यह दशा देखकर उन्हें राम-लक्ष्मण-सीताके पास पहुँचा क्यों नहीं दिया?—समाधान यही है कि महाराज जो इस समय कह रहे हैं, वह प्रिय प्रेम प्रमाद ही है। सुमन्त्रको क्यों रथ लेकर भेजा, यदि जाना था तो स्वयं क्यों नहीं चले गये? बात यह है कि ये सब बातें महाराजके दुःखमेंका कराहना है। सत्यसन्ध राजा किसी हालतमें सत्य नहीं छोड़ना चाहते। वर दिया है कि *'तापस बेष बिसेषि उदासी…'*! तब जा कैसे सकते हैं। उनके जानेपर उदासीनता कैसे रहेगी?

**पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम सुअन सँदेस सुनाऊ॥ १॥**
**करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। रामु लखनु सिय नयन देखाऊ॥ २॥**
**सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पंडित ग्यानी॥ ३॥**
**बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधु समाजु सदा तुम्ह सेवा॥ ४॥**
**जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥ ५॥**
**काल करम बस होहिं गोसाँई। बरबस राति दिवस की नाँई॥ ६॥**
**सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥ ७॥**
**धीरजु धरहु बिबेकु बिचारी। छाड़िअ सोचु सकलु हितकारी॥ ८॥**

अर्थ—राजा बारम्बार मन्त्रीसे पूछते हैं कि परमप्रिय पुत्रका सन्देश सुनाओ॥ १॥ हे सखा! तुम वही उपाय तुरत करो (जिसमें) राम-लक्ष्मण-सीता नेत्रोंको दिखाओ॥ २॥ धीरज धरकर मन्त्री कोमल वाणी बोले—महाराज! आप पण्डित हैं, ज्ञानी हैं, वीर हैं, उत्तम धीरोंमें धुरन्धर (श्रेष्ठ) हैं, देवता और साधुओंके समाजकी आप सदा सेवा करते आये हैं॥ ३-४॥ जन्म, मृत्यु, सभी दुःख-सुखके भोग, हानि-लाभ, प्रियका मिलना और बिछुड़ना, ये सब, हे गोसाईं! काल और कर्मके अधीन रात-दिनकी तरह जबरदस्ती होते रहते हैं॥ ५-६॥ मूर्ख सुखमें प्रसन्न होते हैं और दुःखमें पीड़ित हो रोते हैं, परंतु धैर्यवान् पुरुष दोनोंको मनमें समान मानते हैं॥ ७॥ विवेकसे विचारकर धीरज धरिये। हे सबके हित करनेवाले! सोच छोड़िये॥ ८॥

नोट—१ *'पुनि पुनि पूछत…'* इति। वाल्मी० २। ५८ में राजाने पूछा है—धर्मात्मा राम कहाँ निवास करते हैं? उन्होंने तुमसे क्या कहा है? जो रामचन्द्र पैदल, सेना आदिके साथ बाहर जाया करते थे वे निर्जन वनमें कैसे निवास करेंगे? अजगर, दुष्ट पशु तथा काले नाग वनमें रहते हैं। वहाँ राम, लक्ष्मण, सीता कैसे रहेंगे। रथसे उतरकर सुकुमारी सीताके साथ वे पैदल कैसे गये? सुमन्त्र! रामने क्या कहा? लक्ष्मणने क्या कहा? और वनमें जाकर सीताने क्या कहा? सूत! उनके रहने, खाने, सोने आदिके सम्बन्धकी बातें कहो। (श्लोक ५ से १२ तक)। यह सब *'पुनि पुनि पूछत'* से जना दिया। बार-बार पूछना व्याकुलताका सूचक है।

टिप्पणी—१ *'सचिव धीर धरि कह मृदु बानी।…'* इति। मन्त्रीकी दशा ऊपर कह आये हैं। वह बहुत ही व्याकुल थे, उनका कण्ठ गद्गद था। राजाके बहुत भारी दुःखको देखकर सुमन्त्र अपना दुःख भूल गये; इसीसे उपदेश करने लगे। उपदेशके सम्बन्धसे 'सचिव' पद दिया। (ख)—'महाराज' का भाव कि राजा धीर होते हैं और आप तो चक्रवर्ती महाराज हैं, सुरराजतक जिनका रुख ताकते रहे हैं, आपको अधीर न होना चाहिये। आप पण्डित (=बुद्धिमान् और शास्त्रवेत्ता) और 'ज्ञानी' अर्थात् विवेकी, शास्त्रजन्य ज्ञानमें भी निपुण, तत्त्ववेत्ता हैं; अतः धीरज धरना चाहिये।

टिप्पणी—२ *'धुरंधर'* अर्थात् सप्तद्वीपकी पृथ्वीके धारणकर्त्ता और धर्मरूपी धुरीके धारण करनेवाले। *'देवा'* अर्थात् आप दिव्य हैं, सब लोकपालोंका तेज आपमें है। *'साधु समाज सकल तुम्ह सेवा'* अर्थात् सत्सङ्गद्वारा कौन वस्तु और ज्ञान है जो आपको न प्राप्त हुआ हो। साधुसेवी दुःख-सुखको समान मानते

हैं। यथा—'*जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए। जिन्हके मिले सुख-दुख समान अमानतादिक गुन भए॥*' (वि० १३६)

टिप्पणी—३ '*बरबस रात दिवस की नाईं*' जैसे रातके बाद दिन, दिनके बाद रात होती है; किसीके रोके यह क्रम रुक या पलट नहीं सकता। परीक्षित्‌ने बहुत उपाय किये पर न बचे। साँपने काटा ही। वैसे ही कर्म और कालके अनुसार जन्म, मरण, दुःख, सुख आदि भोगने ही पड़ते हैं, किसी उपायसे बचत नहीं हो सकती। अभी दुःख हुआ, आगे सुख होगा, हानि हुई, आगे लाभ होगा।

प० प० प्र०—(१) रामवियोग-शोक-दुःखसे स्वयं सुमन्त्रजी कितने व्याकुल हो गये थे, यह '*सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना*' से '*जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु*' (१४६) तक विस्तारसे कहा गया है। (२) तथापि 'महाराजको आप स्वयं ही समझाते हैं' इससे '*पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे*'' के समान सुमन्त्रजीका व्यवहार देखनेमें आता है। यहाँ मानवस्वभावकी एक विशेषता सुचारुरूपसे बतायी गयी है। (३) पण्डित, ज्ञानी, वीर, सुधीर धुरंधर, '*साधु समाज सदा तुम्ह सेवा*' इत्यादि सब लक्षण सुमन्त्रजीमें भी विद्यमान हैं। वे स्वयं बुध हैं। '*यह सियराम सनेह बड़ाई।*', '*यह महिमा रघुबर सनेह की*'। '*राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥*'

२—'*सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥*' यह वचन श्रीसीताराम-विरह दुःखको छोड़कर अन्यत्र यथार्थ है। '*राउ धीर गुन उदधि अगाधू*' हैं ही। दशरथजी जड़ नहीं हैं, न सुमन्त्रजी जड़ हैं। जितने धीर सुमन्त्रजी हैं उतने या उससे भी अधिक दशरथजी हैं। पर दशरथजी श्रीसीता-रामस्नेहकी व्याकुलतामें प्राण त्याग करेंगे इस डरसे सुमन्त्रजीका समझाना अति उचित ही है।

पं०—'*धीरज धरहु*''' इति। शोक, विवेक और धैर्य आदिका नाशक है। अतः उसे छोड़िये। गुरु तथा शास्त्रोंद्वारा जो विवेक प्राप्त है उससे विचार कीजिये तो धैर्य होगा।

**दो०—प्रथम बास तमसा भएउ दूसर सुरसरि तीर।**
**नहाइ रहे जल पानु करि सिय समेत दोउ बीर॥१५०॥**
**केवट कीन्ह बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गँवाई॥१॥**
**होत प्रात बट छीरु मगावा। जटा मुकुट निज सीस बनावा॥२॥**
**रामसखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥३॥**
**लखनु बान धनु धरे बनाई। आपु चढ़े प्रभु आयसु पाई॥४॥**

शब्दार्थ—बीर=भाई। यथा—'*जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर।*' (६-६३) '*बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।*' (६-११५) बीर=बहादुर। सिंगरौर=शृङ्गवेरपुर। गँवाई=बिताई।

अर्थ—पहला निवास तमसापर हुआ, दूसरा गङ्गातटपर। श्रीसीताजीसहित दोनों रघुकुलबीर भाई उस दिन स्नान करके जल पीकर रह गये॥१५०॥ केवटने बहुत सेवा की। वह रात सिंगरौरमें ही बितायी॥१॥ सबेरा होते ही (श्रीरामजीने) बरगदका दूध मँगाया और अपने सिरपर जटाओंका मुकुट बनाया॥२॥ तब श्रीरामजीके सखा (निषादराज) ने नाव मँगायी। श्रीरघुनाथजी प्रिया (श्रीसीताजी) को (उसपर) चढ़ाकर (स्वयं) चढ़े॥३॥ लक्ष्मणजीने धनुष-बाण सँवारकर रखे (वा, धारण किये) और प्रभुकी आज्ञा पाकर आप भी चढ़े॥४॥

टिप्पणी—१ '*प्रथम बास तमसा*''*सेवकाई*' इति।—वाल्मीकिजीके मतानुसार दो दिन जलपर ही रहे और गोस्वामीजीके शंकर-मानसके अनुसार एक दिन जल पीकर रहे, दूसरे दिन गङ्गातटपर निषादराजके फल-मूल खाकर रहे। दोनों मतोंका निर्वाह यहाँ पूज्य कविने कर दिया है। वाल्मीकिजीका मत दोहेमें आ गया। उसके अनुसार केवटकी सेवा शय्या बनाना, पहरा मुकर्रर करना है। दूसरा मानसका मत

यथासंख्यालङ्कारसे अर्थ करनेसे स्पष्ट हो जाता है। '*प्रथम बास तमसा भयउ*' (तहाँ) *नहाइ रहे जल पानु करि*' और 'दूसरा सुरसरितीर (तहाँ) '*केवट कीन्ह बहुत सेवकाई*'' अर्थात् फल-मूल लाकर दिये जो सबने खाये, शय्या सजाई, पहरा दिया, नाव मँगाई इत्यादि।' अध्यात्मरामायण सर्ग ७ श्लो० ८ से भी शृङ्गवेरपुरमें निराहार ही रहना जान पड़ता है, यथा—'**गुहेन किंचिदानीतं फलमूलादिकं च यत्। स्पृष्ट्वा हस्तेन संप्रीत्य नाग्रहीद्विससर्ज तत्॥**' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीने प्रीतिपूर्वक हाथसे स्पर्श करके लौटा दिया, ग्रहण नहीं किया। वाल्मी० २। ५० में श्रीरामजीने स्पष्ट कहा है कि '**अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्। एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः॥**' (४५) घोड़ेके खानेके लिये जो आप ले आये हैं उसे तो मैं ले लेता हूँ और सब चीजें मैं न लूँगा। आपकी यह वस्तु लेकर मैं आपके द्वारा सत्कृत हो जाऊँगा। आगे श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि 'जल ही पिया'—'**जलमेवाददे भोज्यम्॥**' (४८)

टिप्पणी—२ '*जटा मुकुट निज सीस बनावा*' अर्थात् गङ्गाक्षेत्रसे वानप्रस्थधर्म ग्रहण किया। (लक्ष्मणजीने भी सिरपर जटाएँ धारण की हैं इसके कहनेकी आवश्यकता न थी, इससे न कहा। इतनेसे ही समझ लिया जायगा।)

टिप्पणी—३ '*लषन बान धनु धरे बनाई*…' इति। इससे दिखाया कि लक्ष्मण सन्नद्ध हैं। आयुधोंको धारण किया। नावपर चढ़ना और पार जाना प्रभुके अधीन है; अतः, आज्ञाकी राह देखते रहे, आज्ञा पाकर चढ़े। (पंजाबीजीका मत है कि लक्ष्मणजीने शस्त्र उतारकर रख दिये, क्योंकि नदीके भयसे तनपर शस्त्र आदि नहीं धारण किये जाते। कारण कि यदि नाव कदाचित् डूब जाय तो अस्त्र-शस्त्र बाँधे सँभलना कठिन हो जाय। अथवा इससे नावपर रख दिया कि श्रीरामजी पार उतरकर अभी स्नान करेंगे। अथवा, सुधारकर लक्ष्मणजीने धारण किया। ☞ सर्ग ६ अध्यात्मरामायणमें '**आयुधादीन् समारोप्य लक्ष्मणोऽप्यारुरोह च।**' (२०) ऐसा लिखा है। अर्थात् सब आयुधोंको रखकर तब लक्ष्मणजी चढ़े।)

**बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा। बोले मधुर बचन धरि धीरा॥ ५॥**
**तात प्रनामु तात सन कहेहू। बार बार पद पंकज गहेहू॥ ६॥**
**करबि पाय परि बिनय बहोरी। तात करिअ जनि चिंता मोरी॥ ७॥**
**बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ ८॥**

अर्थ—मुझे व्याकुल देखकर रघुबीर (श्रीरामजी) धीरज धरकर मधुर वचन बोले—॥ ५॥ हे तात! पिताजीसे प्रणाम कहना, बारम्बार (मेरी ओरसे) पदकमल पकड़ना॥ ६॥ फिर पाँव पकड़कर विनती करना—हे तात! मेरी चिन्ता न कीजिये॥ ७॥ आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्य (के प्रताप) से वनमार्गमें हमें मङ्गल और कुशल है॥ ८॥

वि० त्रि०—श्रीरामजीने पहिले सुमन्त्रको विदा कर दिया, तब आप गङ्गातटपर आये, यथा—'*बरबस राम सुमंत पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥*' और यहाँ कहते हैं कि संवाद रामजीके नावपर सवार होनेके बाद हुआ, और संवादमें जो बातें हुई थीं वे सुमन्त्रजीकी कही हुई बातोंसे मेल भी नहीं खातीं। इससे मालूम होता है कि विदा होनेके बाद भी सुमन्त्रने नहीं माना, वे गङ्गातटपर पहुँच ही गये, वहाँ भी कुछ बात-चीत हुई। दोनों संवादोंकी मिली-जुली बातें यहाँ सुमन्त्रजी कह रहे हैं।

टिप्पणी—१ '*बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा।*…' इति। वे रघुवीर हैं, स्नेहको जीते हुए हैं, तो भी वे करुणानिधान हैं। मुझे विकल देख 'रघुवीर' भी विकल हो गये, यथा—'*करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं॥*' अतः धैर्य धारण करके बोले।

टिप्पणी—२ '*बन मग मंगल कुसल हमारे।*…' इति। वनमें मङ्गल है—मुनियोंका दर्शन होगा; कुशल है। सुग्रीव आदि सखा मिलेंगे। अथवा, धर्मका निर्वाह होगा, कोई बाधा न कर सकेगा, यह मङ्गल आपकी कृपा—अनुग्रहसे होगा और मार्गमें कुशलपूर्वक जाऊँगा यह आपके पुण्यके प्रतापसे। [कृपा, अनुग्रह दो

पर्यायशब्द विशेषता सूचित करनेके लिये हैं। *'पुन्य तुम्हारे'* का भाव कि जिनके माता-पिता धर्मात्मा होते हैं, उनकी संतान उनके सुखके लिये उनके पुण्य प्रभावसे सकुशल रहती है। (पं०)]

**छं०—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।**
**प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं॥**
**जननी सकल परितोषि परि परि पाय करि बिनती घनी।**
**तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी॥**

**सो०—गुर सन कहब सँदेसु बार बार पद पदुम गहि।**
**करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति॥ १५१॥**

अर्थ—हे तात! आपकी कृपासे वनमें जाते हुए मैं सब सुख पाऊँगा। आज्ञाका पूर्णरीतिसे पालन करके कुशलपूर्वक लौटकर फिर चरणोंका दर्शन करने आऊँगा। सब (सात सौ) माताओंके पैरों पड़-पड़कर उनका संतोष करके और पैरों पड़-पड़कर बहुत तरहसे विनती करना। तुलसीदासजी कहते हैं कि (श्रीरामजीने उनसे विनय करके यह कहनेकी प्रार्थना की कि) वही उपाय कीजिये जिससे कोशलनाथ कुशल रहें। बारम्बार गुरुजीके चरणकमलोंको पकड़कर यह संदेश कहना कि पिताजीको वही उपदेश दें, जिससे अवधेश महाराज मेरा सोच न करें॥ १५१॥

टिप्पणी—१ *'कानन जात'''* अर्थात् जानेभरकी ही देर है, गये कि सुख मिला। क्योंकि *'हरिमारग चितवहिं मति धीरा'* 'सब वानर सेवाके लिये राह ताक रहे हैं'।

टिप्पणी—२ *'करेहु सोइ जतनु जेहि कुसली रहहिं'* इति। अर्थात् उनका अपमान भी यह कहकर न करें कि हमारे पुत्रको वन भेज दिया, यह भी इसमें जना दिया। [यह चरण सुमन्त्रके प्रति भी लिया जा सकता है कि तुम ऐसा करना। रा० प्र०]

टिप्पणी—३ *'गुरु सन'''* इति। इससे यह भी सूचित किया कि उन्हें समझावें कि इनका तो आविर्भाव ही इसीलिये हुआ है, रावणका वध करके लौट आवेंगे।

नोट—'कोसलधनी और अवधपति' साभिप्राय हैं। कोसल वा अवधके स्वामी हैं, इनके कुशलसे पुरीका कुशल है, वे राजा अवधके हैं, अतः शोच न करना चाहिये, क्योंकि इस कुलके सभी राजा धर्मपालनमें उदार रहे हैं।

**पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएउ* बिनती मोरी॥ १॥**
**सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाहु सुखारी॥ २॥**
**कहब सँदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपदु पाए॥ ३॥**
**पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥ ४॥**
**ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥ ५॥**
**तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करै† न काऊ॥ ६॥**
**लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोरि निहोरा॥ ७॥**
**बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लषन लरिकाई॥ ८॥**

**दो०—कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह।**
**थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥ १५२॥**

* सुनाएउ—रा० प्र०। सुनाएहु—गी० प्रे०। † करै—गी० प्रे०। करइ— रा० प०। करहिं—लाला सीताराम।

अर्थ—हे तात! सब पुरवासियों और कुटुम्बियोंसे निहोरा करके, मेरी विनती सुनाना॥ १॥ सब प्रकारसे वही मेरा हितकारी है, जिससे राजा सुखी रहें॥ २॥ भरतके आनेपर संदेसा कहना कि राजपद पाकर नीति न छोड़ देना* (वा, राजनीति यही है कि प्राप्त राज्यको छोड़ना न चाहिये)॥ ३॥ कर्म-मन-वचनसे प्रजाका पालन करना और सब माताओंको समान जानकर सबकी सेवा करना॥ ४॥ हे भाई! पिता, माता और सुजन-(स्वजनों, परिजनों और सज्जनों-) की सेवा करके भाईपना अन्ततक निबाहना॥ ५॥ हे तात! राजाको उसी प्रकारसे रखना, जिससे वे कभी भी मेरा शोच न करें॥ ६॥ लक्ष्मणजीने कुछ कठोर वचन कहे तब श्रीरामजीने उनको मना करके डाँट करके फिर मुझसे विनती की॥ ७॥ बार-बार अपनी कसम दिलायी कि हे तात! पितासे लक्ष्मणका यह लड़कपन न कहना॥ ८॥ प्रणाम कहकर फिर श्रीसीताजीने कुछ कहना चाहा पर वह स्नेहके कारण शिथिल हो गयी, वाणी रुक गयी, नेत्र आँसूसे भर गये, देह पुलकसे प्रफुल्लित हो गयी॥ १५२॥

टिप्पणी—१ *'जाते रह नरनाहु सुखारी'* इति। भाव कि तुम सब नर हो, प्रजा हो, वे तुम सबके 'नाह' पति, स्वामी हैं; अतः तुम सबको उनकी सेवा योग्य ही है।

टिप्पणी—२ *'नीति न तजिअ राजपद पाए'* इति। राज्य पानेपर अभिमान हो जाता है—*'जगु बौराइ राजपदु पाये'*। (२२८-८) अतएव भरतजीसे कहते हैं कि तुम नीतिका त्याग न करना, नीति छोड़नेसे नरक होता है। [*'पालेहु प्रजा कर्म मन बानी'*—भाव कि मनसे सबका शुभ चाहना, वाणीसे मीठा बोलना और तनसे सबपर कृपा-दया रखना, सबको सुख देना (पं०)]

टिप्पणी—३ *'ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु'''* इति। ओर-छोर निबाहना। [शत्रुघ्नसे विरोध न करना। पिता-माताकी सेवा करके भाईपना निबाहना, यह कहकर जनाते हैं कि हमारी माता, लक्ष्मणजीकी माता और अन्य सब माताओंकी सेवा करनेसे हम दोनों भाई भी खुश होंगे, यही भायप 'निबाहना' है। अपना भाई मानकर भाईकी माताकी सेवा करना। पुनः, *'नीति न तजिअ''*' के दूसरे अर्थके अनुसार यह भाव भी निकलता है कि कैकेयीको वनवासका कारण समझकर उनका त्याग न करना, उनकी सेवा सब माताओंके समान करना। श्रीरामजी जैसे यह जानते हैं कि वे राज्य न ग्रहण करेंगे, उनको राजमद न होगा, वैसे ही यह भी जानते हैं कि ये माताका त्याग करेंगे (पाण्डेजी *'भायप''पितु मातु चरन सेवकाई'* का भाव यह लिखते हैं कि हम पिता-माताकी आज्ञाका सेवन करते हैं, तुम उनके चरणोंकी सेवा करो। इस तरह भायप निबाहो)। अतएव इसका ऐसा भाव हो सकता है।] वाल्मीकीय० सर्ग ५२ में श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे यह संदेशा कहा है—'**भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे। तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः॥' यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः। तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः॥ तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता।**

* साधारण अर्थ पहला है। श्रीरामजी बड़े हैं, भरत छोटे और प्रिय भाई हैं। बड़े छोटेको नीति सिखाते ही हैं। इसी काण्डमें सिखाना कहा गया है। यथा—'मुखिया मुख सों चाहिये खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥ ३१६॥ राजधरम सर्बस इतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥' और उत्तरकाण्डमें भी बराबर भाइयोंको नीति सिखाना पाया जाता है। यथा—'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती।' (७। २५। ३) वैसे उनपर प्रेम होनेसे छोटे भाई समझकर यह नीतिशिक्षाका संदेश भेजा है, यद्यपि वे जानते हैं कि इनको इस शिक्षाकी जरूरत नहीं। श्रीसीताजीको अनुसुइयाजीने पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा दी, यद्यपि उनको उसकी जरूरत न थी—'सुनु सीता तव नामु सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसारहित' (आ० ५)। कुछ लोग इस अर्थमें शंका करते हैं और कहते हैं कि जब श्रीरामजीने स्वयं लक्ष्मणजीसे कहा है कि 'भरतहि होइ न राजमद बिधिहरिहरपद पाइ' तब ऐसा संदेसा उनके मुखसे कदापि नहीं निकल सकता। अतएव दूसरी प्रकारसे अर्थ उनके संतोषार्थ किया गया। और नीति है भी कि 'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका'। और इसका समर्थन भरतजीके वचनोंसे भी होता है—'प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आएउँ इहाँ समाज सकेली'; वे प्रभु-बचन ये ही हैं। इस आज्ञाको मेटकर चित्रकूट आनेके लिये क्षमा माँगी। अतः यह अर्थ भी सुसंगत है।

**लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्॥'** (३४—३६) अर्थात् 'भरतसे कहना कि जैसा राजाके साथ व्यवहार करो वैसा ही सब माताओंके साथ करना। जैसे कैकेयी और सुमित्रा (शत्रुघ्नके सम्बन्धसे) तुम्हारी माताएँ हैं वैसे ही मेरी माता कौसल्या देवी तुम्हारी माता हैं। पिताकी प्रसन्नताके लिये यौवराज्यके कर्तव्य पालन करनेसे तुम लोक-परलोक दोनोंमें नित्य सुख पा सकते हो। सर्ग ५८। २२—२५ में सुमन्त्रने यों कहा है—'भरतसे कहना कि सब माताओंकी यथायोग्य सेवा वे करें, युवराजपद पाकर वे राजासनपर अधिष्ठित पिताका पालन करें, राजाकी इच्छा भङ्ग न होने दें, उनके आज्ञानुसार यौवराज्यमें संतोष करें। और मेरी माताको अपनी माताके समान समझें। इसी तरहकी अनेक बातें कहीं।'

टिप्पणी—४ *'पुनि कछु कही लषनु कटु बानी।''लरिकाई'* इति। लक्ष्मणजीने पिताको कटु वचन कहे और श्रीरामजी ऐसे पितृभक्त कि *'पिता बचन तजि राज उदासी। दंडकबन बिचरत अबिनासी॥'* अर्थात् इन्होंने पितापर किंचित् क्रोध न किया, किंतु उनके वचन मानकर राज्य छोड़ वनमें फिरने लगे। श्रीरामजीको लक्ष्मणजी अति प्रिय हैं, यथा—*'ते सियरामहि प्रान पियारे'*, और उनके प्रति भरतजीने भी कहा ही है कि **'लालन जोग लषन लघु लोने'** इत्यादि। अतएव लक्ष्मणजीके कथनकी लड़कपनमें गणना करके उन्होंने मन्त्रीसे यह कहा कि *'कहब न तात लषन लरिकाई'*। तब सुमन्त्रने क्यों कहा? इसका एक कारण *'सकुचि राम निज सपथ दिवाई।'* (९६। ५) में लिखा जा चुका है। दूसरे, राजा तीनोंका संदेसा पूछ रहे हैं—*'सोक बिकल पुनि पूँछ नरेसू। कहु सिय राम लषन संदेसू॥'* अतएव इतना ही कहा कि लक्ष्मणजीने कुछ कहा था, पर श्रीरामने अपनी शपथ दिलाई है कि न कहना।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'राजा बड़े हैं, तुम बड़े हो, हम बड़े हैं, हम लोगोंके बीचमें लक्ष्मणको लड़कपन न करना चाहिये, पर फिर भी ये लड़के ही हैं; अतः ऐसी बातोंपर ध्यान देना, उनका कहना योग्य नहीं। इसको भुला दो। किसीका मत है कि राजा सत्यसंध हैं, उनका मन्त्री भी सत्यवादी हुआ चाहे। अतः मन्त्रीने सत्य न छोड़ा। राजाका उत्तर भी दिया और श्रीरामजीका वचन भी रखा। (विशेष ९६। ५ में देखिये)।

प० प० प्र०—१ श्रीरामजीकी आज्ञा है *'लखन सँदेसु कहिअ जनु'*—सुमन्त्रने संदेश कहाँ कहा? किञ्चित् भी तो नहीं कहा। *'लषन कहे कछु बचन कठोरा'* कहनेकी आवश्यकता क्या थी? उत्तर—राजाके *'कहु सिय राम लषन संदेसू'*। पर भी सुमन्त्रजीने किसीका संदेसा नहीं कहा। पर जब *'पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम सुअन सँदेस सुनाऊ॥'* (१५०। १) तब कहना भी आवश्यक हो गया। *'प्रियतम सुअन'* श्रीराम लक्ष्मण दोनों हैं। यथा—*'मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।''* (१। २०८। १०), *'पुनि दंडवत करत दोउ भाई।''सुत हित लाइ दुसह दुख मेटे।'* (१। ३०८) अतः राजाके आज्ञानुसार लक्ष्मणका संदेश सुनाना कर्तव्य हो गया। पर श्रीरामजीकी मनाही थी। अतः सुमन्त्रजीने बुद्धिमानीसे दोनोंकी आज्ञाका पालन किया। फिर जो वचन कहे वे भी सन्दिग्ध ही हैं। इसमें यह नहीं कहा कि वे वचन दशरथसम्बन्धी थे या कैकेयीसम्बन्धी। कैकेयीको ही सबने बुरा-भला कहा है, यथा—*'जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी।'* (५०। १) *'देहिं कुचालिहि कोटिक गारी।'* (५१। ४) इससे राजाने समझा होगा कि कैकेयीके विषयमें कटु वचन कहे होंगे। सुमन्त्रजी पूरे निर्दोष हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना 'सुमन्त्र' नाम चरितार्थ कर दिखाया।

२ श्रीदशरथजी और श्रीसुमन्त्रजीके रामप्रेमविरह-अवस्थाका मिलान बड़ा आनन्ददायक होगा, श्रीमुख-वचन है *'तुम्ह पितु सरिस'*।

नोट—१ *'कहि प्रनाम कछु'''* इति। श्रीसीताजीका संदेसा क्यों न कहा? पंजाबीजी कहते हैं कि यह सोचकर सुमन्त्रजीने न कहा कि वह संदेस हमसे न कहा जा सकेगा। श्रीसीताजीके शीतल वचन सुनकर सुमन्त्रजी व्याकुल हो गये थे—*'सुनि सुमंत्र सिय सीतल बानी। भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥'* सुनकर यह दशा हो गयी थी तो कहते क्योंकर? पुनः इसका स्मरण करके ही वे विह्वल हो रहे हैं। पुनः राजाको विश्वास था कि वे जरूर लौटेंगी,

उस संदेशको सुनकर तो उनके प्राण क्षणभर भी न रहेंगे। हमारी यह दशा हुई तो राजाकी क्या दशा होगी, यह समझकर न कहा।

नोट—२ केवटका प्रसङ्ग नहीं कहा गया। क्योंकि वह इनके पीछे हुआ। *'बरबस राम सुमंत्र पठाए। सुरसरि तीर आप तब आए॥ माँगी नाव न केवट आना।'* (९९। २-३) इन्होंने नावका चलाना दूरसे देखा। दूसरे, यह ऐश्वर्यका प्रसङ्ग है, इससे न कहा, केवल माधुर्यका प्रसङ्ग कह दिया। तीसरे, ऐसा वर्णन करके वाल्मीकिजीका मत भी दिखा दिया। उसमें यहाँ केवटका प्रसङ्ग नहीं है।

नोट—३ यहाँका वर्णन अध्यात्मसे मिलता-जुलता है, यथा—'**सीता चाश्रुपरीताक्षी मामाह नृपसत्तम। दुःखगद्गदया वाचा रामं किंचिदवेक्षती॥ साष्टाङ्गं प्रणिपातं मे ब्रूहि श्वश्र्वोः पदाम्बुजे। इति प्ररुदती सीता गता किंचिदवाङ्मुखी॥**' (७। १२-१३) अर्थात् नेत्रोंमें जल भरकर कुछ-कुछ श्रीरामकी ओर देखते हुए सीताजीने दुःखसे गद्गदकण्ठ हो कहा—दोनों सासुओंके चरणकमलोंमें मेरा प्रणाम कहना। ऐसा कह सिर झुकाकर रोती हुई वे वहाँसे चली गयीं।

**तेहि अवसर रघुबर रुख पाई। केवट पारहि नाव चलाई॥ १॥**
**रघुकुलतिलक चले एहि भाँती। देखउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥ २॥**
**मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जिअत फिरेउँ लेइ राम संदेसू॥ ३॥**
**अस कहि सचिव बचन रहि गयऊ। हानि गलानि सोच बस भयऊ॥ ४॥**

अर्थ—उसी समय रघुवरका रुख पाकर केवटने पार जानेके लिये नाव चलायी॥ १॥ रघुकुलशिरोमणि श्रीराम इस प्रकार चल दिये और मैं छातीपर वज्र रखकर खड़ा देखता रहा॥ २॥ मैं अपना क्लेश कैसे कहूँ कि श्रीरामचन्द्रका संदेश लेकर जीता ही लौट आया॥ ३॥ ऐसा कहकर सुमन्त्रकी वाणी रुक गयी, और वे हानि, ग्लानि वा हानिकी ग्लानि और शोचके वश हो गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कुलिस धरि छाती'* का भाव कि वज्र न रखा होता तो वह फट जाती। २—*'किमि कहौं'* अर्थात् यही आश्चर्य है कि मैं जीता लौटा तभी तो आकर कहा। ३—*'हानि गलानि सोच बस भयऊ'* इति। हानि, ग्लानि और शोच तीनोंके वश हो गये, इसीसे वचन न निकला। अथवा, हानिसे ग्लानि हुई, उससे शोच हुआ, ग्लानि यह कि जीता लौटा। पूर्व सुमन्त्रके ग्लानिके प्रसङ्गमें कह आये हैं—*'मनहु कृपिन धनरासि गँवाई'*। राम परम धन हैं, श्रीरामजीका न लौटना धनकी हानि है। उत्साह भंग हो गया, हर्ष जाता रहा, राम हाथसे निकल गये, मैं कैसे उत्तर दे रहा हूँ, जगत्‌को कैसे मुँह दिखाऊँगा, राजाका जीना कठिन है इत्यादि ग्लानि और शोच हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जियत फिरेउँ लेइ राम संदेसू॥'* इतना कहते ही सुमन्त्रजीकी वाणी रुक गयी, वे हानि, ग्लानि और शोकके वश हो गये, और ऐसे हानि-ग्लानि-शोकके वश हुए कि चौदह वर्षतक उन्होंने मुँह न दिखलाया। महाराजका स्वर्गवास हुआ, भरतजी आये, और्ध्वदैहिक कृत्य हुआ, भरत-सभा हुई, सब लोग चित्रकूट गये, महाराज जनक आये, सब कुछ हुआ, पर सुमन्त्रजीका पता नहीं है। जब रामजी वनवाससे लौटे तभी सुमन्त्रजीने घरसे बाहर पाँव दिया।

**सूत बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥ ५॥**
**तलफत बिषम मोह मन माँपा। माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा॥ ६॥**
**करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महा बिपति किमि जाइ बखानी॥ ७॥**
**सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरजु भागा॥ ८॥**

**दो०—भएउ कोलाहल अवध अति सुनि नृप राउर सोरु।**
**बिपुल बिहग बन परेउ निसि मानहु कुलिस कठोरु॥ १५३॥**

शब्दार्थ—सूत=सारथी, पौराणिक, मन्त्री सुमन्त्रजी। मापना=मतवाला हो जाना, व्याकुल होना, **माँजा**= पहली वर्षाका फेन। *'माजहि खाइ मीन जनु मापी।'* (५४।४) देखिये।

अर्थ—सारथि सुमन्त्रके वचन सुनते ही राजा पृथ्वीपर गिर पड़े, उनके हृदयमें कठिन दाह होने लगा॥५॥ तड़प रहे हैं कठिन मोहसे मन मतवाला हो गया। अर्थात् अत्यन्त व्याकुल हो गये, मानो मछलीको माँजा व्याप गया॥६॥ सब रानियाँ विलाप कर-करके रो रही हैं, बड़ी घोर विपत्ति है, कैसे बखान की जाय॥७॥ विलाप सुनकर दुःखको भी दुःख लगा। धैर्यका भी धैर्य भाग गया॥८॥ राजमहलका शोर सुनकर अवधभरमें अत्यन्त शोर मच गया। ऐसा मालूम होता है मानो पक्षियोंके बड़े भारी वनमें रातको कठिन वज्र गिरा हो॥१५३॥

टिप्पणी—१ *'मोह मन माँपा'* इति। यमुनापार 'माप' शब्द नापके अर्थमें बोला जाता है। इस तरह अर्थ होगा—मोहने मनको नाप लिया, जहाँतक मनकी हद है वहाँतक मोह व्याप्त होगा।

टिप्पणी—२ *'दुखहू दुख लागा।'''* इति। दुःख सबको दुःख दिया करता था, पर आज वह स्वयं दुःखी हो गया, यह दुःख अलौकिक है और वह लोककृत है। 'धीरज'—कितनी ही हानि हो धीरज बना रहता है, भागता नहीं। अपनी हानिसे दूसरेकी हानि अधिक होती है तब भी धीरज होता है। इस परमहानिसे बढ़कर हानि नहीं; इससे धीरज न रहा। (भाव, ऐसा दुःख सबको हुआ और ऐसा सबका धैर्य जाता रहा कि मूर्तिमान् दुःख और धैर्य भी दुःखी और अधीर होकर भाग जायँ। इससे दुःखकी सीमा दिखायी। अत्यन्त असीम दुःख हुआ।)

टिप्पणी—३ *'बिपुल बिहग बन'''* इति। अयोध्या वन है, पुरवासी विहंग हैं, मन्त्रीका वचन कुलिश है। पहले वज्र राजापर गिरा, यथा—*'सूत बचन सुनतहि नर नाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥'* वज्रसे भी दारुण दाह होता है। अथवा मन्त्री रात्रिको नगरमें आया, वही वज्र है। वनपर रातमें वज्र गिरना कहा, क्योंकि रातमें सब पक्षी बसेरा लेते हैं; कोई भी उस समय बाहर नहीं रहता, सब अपने-अपने बसेरेपर पहुँच जाते हैं।

कैकेयीसे जो सखियोंने कहा था कि *'कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥'* उसको यहाँ चरितार्थ किया।

**प्रान कंठ गत भएउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥१॥**
**इंद्री सकल बिकल भइँ भारी। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी॥२॥**
**कौसल्या नृपु दीख मलाना। रबिकुल रबि अथएउ जिय जाना॥३॥**
**उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥४॥**

अर्थ—राजाके प्राण कण्ठमें आ गये (ऐसे देख पड़ते हैं) मानो मणिके बिना सर्प व्याकुल हो रहा है॥१॥ सभी इन्द्रियाँ बड़ी व्याकुल हैं, मानो कमलवन बिना जलके तालाबमें कुम्हलाया हो॥२॥ कौसल्याजीने राजाको म्लान (बहुत दुखी) देखा (तब) जीमें जान गयीं कि सूर्यकुलका सूर्य अब अस्त होनेवाला है॥३॥ हृदयमें धीरज धरकर श्रीरामजीकी माता समयके अनुकूल वचन बोलीं॥४॥

टिप्पणी—१ *'प्रान कंठगत भएउ'''* इति। *'प्रीतम सुवन सँदेस'* सुनते ही सब शरीर छोड़कर प्राण कण्ठमें आ गया।

टिप्पणी—२ राजाने वर माँगते समय जीवनके लिये दो दृष्टान्त दिये थे *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।'* उन दोनोंको मरणकालमें दिखाते हैं—*'माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा'* और *'मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।'* राजा तड़पते हैं—*'तलफत मीन मलीन ज्यों॥'* (१५४)

टिप्पणी—३ *'इन्द्री सकल बिकल भइँ भारी।'''* इति। इन्द्रियाँ दस हैं, इसलिये बन शब्द दिया। यहाँ राजा सर, इन्द्रियाँ कमलवन और राम जल हैं। सरसे सबका काम चलता है। राजा सबका पालन करता

है। कमल पवित्र और देवताओंद्वारा पूज्य है। उनकी पूजा इससे होती है, राजा इन इन्द्रियोंद्वारा देवताओंका उपकार किया करते थे। श्रीरामजी धीरधुरंधर हैं। ये 'राम-महतारी' हैं, अतः इन्होंने धीरज धारण किया।

**नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥ ५॥**
**करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥ ६॥**
**धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥ ७॥**
**जौं जिअ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लषनु सिय मिलहिं बहोरी॥ ८॥**
**दो०—प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितएउ आँखि उघारि।**
**तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥ १५४॥**

अर्थ—हे नाथ! आप मनमें समझकर विचार कीजिये कि रामचन्द्रका वियोग अपार समुद्र है॥ ५॥ आप मल्लाह हैं, अवध जहाज है, सब प्रिय प्यारोंका समाज ही यात्री हैं जो उसपर चढ़े हुए हैं॥ ६॥ आप धीरज धरेंगे तो सब पार हो जायँगे, नहीं तो सब परिवार डूब जायगा॥ ७॥ हे प्रिय स्वामी! यदि आप मेरी विनती हृदयमें धारण करें तो राम-लक्ष्मण-सीता फिर मिलेंगे॥ ८॥ प्रिय पत्नीके कोमल वचन सुनकर राजाने आँखें खोलकर देखा, मानो तड़पती हुई दीन मछलीको ठंढे जलका छींटा दिया गया हो॥ १५४॥

टिप्पणी—१ *'करनधार तुम्ह…'* इति। जब राजारूपी कर्णधार अधीर हो गये तो फिर सब डूब क्यों न गये? कारण कि जब कर्णधार अधीर होकर जहाज छोड़कर चल दे तो उसके डूबनेमें संदेह ही क्या हो सकता है। पर यहाँ तो कर्णधारके चले जानेपर दूसरे कर्णधार भरतजी आ गये। यथा—***'अवसि चलिय बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह। सोक सिन्धु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥'*** (१८४) चौदह वर्षतक ये कर्णधार रहे पर इस अवधिकी समाप्तिके निकट ये भी अधीर हो भागनेको हुए—***"बीते अवधि रहे जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥"*** तब इनको सहारा देनेके लिये हनुमान्‌जी कर्णधाररूपसे आ गये, यथा—***'राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गएउ जिमि पोत॥'*** (उ०) और श्रीरामजी स्वयं पहुँच गये।

नोट—१ इसी प्रकार वाल्मी० ५९ में राजाने अपने शोक-सागरका रूपक स्वयं कहा है। श्रीराम-वियोगका शोक उस समुद्रकी धारा है। श्रीसीताजीका विरह दूसरा पार है। श्वास लेना लहरी और भँवर है, आँसूके वेगके कारण गन्दे जलवाला है। दुःखसे हाथका पटकना मछली है, रोना गर्जन है, बिखरे केश सेवार हैं। कैकेयी बड़वाग्नि है। मेरा अश्रु धारा उत्पन्न करनेवाला है। मन्थराके वचन बड़े-बड़े ग्राह हैं, दुष्टा कैकेयीके वर इस समुद्रके तीर हैं और श्रीरामचन्द्रका वनवास इसका विस्तार है। रामचन्द्रके बिना मैं इसी समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। मैं जीता हुआ इस शोक-समुद्रको पार नहीं कर सकता। (श्लोक २८—३१) और मानसमें यहाँ कौसल्याजीने रामवियोगरूपी समुद्रको पार करनेका रूपक कहा है।

नोट—२ श्रीरामजीके वियोगपर समुद्रका आरोप, राजापर कर्णधारका, अवधपर जहाजका, समस्त प्रिय परिवार, प्रजा आदिपर पथिक समाजका, धीरजपर पार पानेका और 'व्याकुलतासे मृत्यु' पर डूबनेका आरोप करना परंपरितका ढंग लिये 'साङ्गरूपक' अलङ्कार है। अन्तमें सम्भावनाकी ध्वनि है। (वीर)

टिप्पणी—२ *'जौं जिय धरिय बिनय पिय मोरी। राम लषन सिय…॥'* इति। अर्थात् मैं आपको शिक्षा नहीं देती, आपसे विनय करती हूँ। राम-लक्ष्मण-सीता फिर मिलेंगे। कौसल्याजीके वचन तो सभी मृदु हैं पर ये अन्तिम वचन 'राम लषन सिय मिलेंगे' ही राजाको अति मीठे और कोमल लगे। इन्हींको सुनकर राजाने आँखें खोलीं। श्रीराम जलरूप हैं। राजा मीन हैं। यही वरदान हैं। उसीका छींटा पाकर नेत्र खुल गये, जैसे कीचड़में पड़ी तड़पती-फड़फड़ाती हुई मछलीको जलका छींटा मिलनेसे प्राण रोकनेका

कुछ सहारा हो जानेसे वह आँख खोल दे। 'राम लषन सिय फिर मिलेंगे' इस वचनरूपी शीतल जलके छींटेसे कुछ देरके लिये ऐसा मालूम हुआ कि मानो वे मिल ही गये। राजा उठकर बैठ गये। यहाँ 'उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

पंजाबीजी—*'प्रिया'* कहा क्योंकि जेठी हैं। इनके पुत्रको वन भेजा तो भी ऐसे दयामय कोमल वचन बोलीं और श्रीरामजीके मिलनेकी आशा दीं।

**धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू। कह सुमंत्र कहँ राम कृपालू॥ १॥**
**कहाँ लखनु कहँ रामु सनेही। कहँ प्रिय पुत्र बधू बैदेही॥ २॥**
**बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती॥ ३॥**
**तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥ ४॥**
**भएउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा॥ ५॥**
**सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा॥ ६॥**
**हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥ ७॥**
**हा जानकी लषन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥ ८॥**

अर्थ—धीरज धरकर राजा उठ बैठे (और बोले) कहो सुमन्त्र, दयालु राम कहाँ हैं?॥ १॥ लक्ष्मण कहाँ हैं? प्यारे स्नेही (वा, हे स्नेही) राम कहाँ हैं? प्यारी पुत्रवधू (बहू) विदेहकुमारी कहाँ हैं?॥ २॥ राजा व्याकुल हैं, बहुत तरहसे विलाप कर रहे हैं। रात युगके समान बड़ी हो गयी, व्यतीत नहीं होती॥ ३॥ (राजाको) अन्धे तपस्वीके शापकी याद आ गयी। उन्होंने कौसल्याजीको सब कथा सुनायी॥ ४॥ (तपस्वीके) इतिहासको वर्णन करते-करते वे व्याकुल हो गये, (और कहने लगे कि) रामके बिना जीवनकी आशाको धिक्कार है॥ ५॥ उस शरीरको रखकर मैं क्या करूँगा जिसने मेरा प्रेमपन न निबाहा॥ ६॥ हा प्राण-प्यारे रघुकुलको आनन्द देनेवाले! तुम्हारे बिना जीते हुए बहुत दिन बीत गये॥ ७॥ हा जानकी! हा लक्ष्मण! हा रघुबर! हा पिताके चित्तरूपी चातकके हित करनेवाले मेघ!॥ ८॥

नोट—*'कहु सुमंत्र कहँ राम'''* इति। रानीके वचन सुनकर उठे, पर सम्बोधन सुमन्त्रको कर रहे हैं। इससे जनाया कि राजा सुमन्त्रजीसे पूछ रहे थे, उसीमें उनका ध्यान है, श्रीरामको छोड़ उनके चित्तमें दूसरी बात नहीं है। *'कृपालू'* विशेषण दिया क्योंकि वनवासियों, देवों, ऋषियोंपर कृपा करने और मेरे वचन सत्य करनेके लिये ही वनको गये हैं और हमपर आगे भी कृपा करेंगे। (पं०)

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'भइ जुग सरिस'''।'* दुःखकी रात है, इससे बहुत बड़ी जान पड़ती है।

टिप्पणी—२ *'भएउ बिकल बरनत इतिहासा।'''* इति। कथा कहते-कहते ग्लानि हुई कि लौकिक प्राकृत पुत्रके माता-पिताने पुत्रविरहमें शरीर छोड़ दिया, हमको धिक्कार है कि हमारा शरीर अलौकिक पुत्रके विरहमें भी नहीं छूटता! जीवनकी कौन कहे, जीवनकी आशाको भी धिक्कार है! इस आशापर जीनेकी चाह करना कि फिर मिलेंगे ऐसी आशाको धिक्कार है! (पंजाबीजी)

टिप्पणी—३ *'सो तन राखि करबि मैं काहा'''* इति। कौसल्याजीकी प्रार्थना थी कि आप धीरज धरें, राम फिर मिलेंगे। उसीपर राजाके वचन हैं कि रामरहित जीवनकी आशाको धिक्कार है, जिस शरीरने प्रेम न निबाहा उसका रखना व्यर्थ है। राजाको ज्ञान तो है पर उनका प्रेम, उनका वात्सल्य, उसे दबाये डालता है—*'धरमधुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारंगपानी॥'* (१।१८८।८) हृदयकी भक्ति जो वहाँ कही उसका भाव यही है कि ऊपर कर्म और ज्ञान देखनेमात्रको हैं, भीतर भक्ति है—अन्धतापसका शाप कहकर कर्ममीमांसाको प्रधान रखा और दूसरी ओर फिर रामविरहको प्रधान रखा। जैसे—*'जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥'* जनकमहाराजका गूढ़ प्रेम रामदर्शनपर प्रकट हुआ वैसे ही इनका

रामवियोगपर। गी० २। ५७, ५८, ५९ से मिलान कीजिये—'"*तिलक को बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यो न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ॥*' (२) *सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ।*" (५७), '*हृदय समुझि सनेह सादर प्रेम पावन मीन। करी तुलसीदास दसरथ प्रीति परमिति पीन॥* (५८), '*करत राउ मन मों अनुमान। सोक बिकल मुख बचन न आवै बिछुरे कृपानिधान॥ १॥ राज देन कहँ बोलि नारिबस मैं जो कह्यों बन जान। आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान॥ २॥ ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जो राखहुँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥ ३॥ राम गये अजहूँ हौं जीवत समुझत हिय अकुलान। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परमान॥ ४॥*' (५९)

नोट—'*तापस अंध,साप सुधि आई*' इति। श्रीरामजीके वनगमनके छठी रात्रिको अर्धरात्रिके समय राजाने अपने पापोंका स्मरण किया। यह कथा वाल्मीकीय० अ० सर्ग ६३-६४ में महाराजने वन जानेकी छठी रातको कौशल्याजीसे यों कही है—कल्याणि! मनुष्य जो उत्तम वा निन्दित कर्म करता है उसका फल उसको मिलता है। जो कर्मके आरम्भमें उसके फलकी गुरुता या लघुताका विचार नहीं करता वह बालबुद्धि कहा जाता है। मैंने यह प्रसिद्धि पानेके लिये कि 'कुमार शब्दवेधी हैं' ऐसा ही पाप किया है। उसी स्वयं किये हुए कर्मका फल आज मुझे मिला। उस समय तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ था और मैं युवराज ही था। एक बार वर्षा-ऋतुमें सूर्यास्त होनेपर धनुषबाण लेकर तथा रथपर व्यायाम करनेकी इच्छासे मैं सरयूतटपर गया कि रातमें नदीतटपर जल पीनेके लिए आये हुए किसी जंगली भैंसा, हाथी, हरिण आदिका शिकार करूँ। अँधेरेमें मुझे हाथीके गर्जनके समान शब्द सुन पड़ा। मैंने हाथीके पानेके लिये तीक्ष्ण बाण चलाया, जिस जगहके लिये मैंने शब्दवेधी बाण छोड़ा था, ठीक वहींसे तपस्वीकी बोलीके शब्द सुनायी दिये। 'हा हा! हमारे समान तपस्वीपर यह शस्त्र क्यों गिरा? मैंने किसका अपकार किया, जो मुझे बाण मारा गया? मुझ अजिन-वल्कलवस्त्रधारी ऋषिके वधसे क्या लाभ मिलेगा? मुझे अपनी मृत्युकी चिन्ता नहीं पर वृद्ध माता-पिताकी चिन्ता है, वे कैसे जियेंगे?' यह दयनीय शब्द सुनकर मेरे होश उड़ गये। मैं ऋषिके पास जहाँ वे गिरे पड़े थे पहुँचा। वे बोले—'मैं अपने वृद्ध अंधे प्यासे माता-पिताके लिए जल लेने आया था। वे प्रतीक्षा करते होंगे, तुमने मुझे किस अपराधसे मारा? बाण निकाल दो और जाकर मेरे पिता-माताससे सब वृत्तान्त कह उन्हें प्रसन्न करो, जिसमें वे तुम्हें शाप न दे दें।' बाण निकालनेसे मृत्यु हो जायगी, इससे मैं चिन्तित हुआ और न निकालनेसे उनको कष्ट था। ऋषि चिन्ताको समझकर बोले 'आप ब्रह्महत्याको न डरें, मैं द्विजाति नहीं हूँ। शूद्राके गर्भसे वैश्यद्वारा मेरा जन्म है'। मैंने बाण निकाला, वे बड़े कष्टमें थे, उनके प्राण निकल गये। (सर्ग ६३) मैं, पाप दूर करनेके विचारसे जलका घड़ा लेकर आश्रमपर गया। पैरकी आहट पाकर वे बोले—बेटा! बड़ा विलम्ब किया, हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही थी, शीघ्र जल लाओ, तुम बोलते क्यों नहीं?' मैं भयभीत हो गया; मुनिको पुत्रका मृत्यु-संवाद सुनाया। 'मैं दशरथ नामका क्षत्रिय हूँ, आपका पुत्र नहीं···' इत्यादि सब वृत्तान्त कह सुनाया। फिर कहा कि 'आप प्रसन्न हों, आपकी रक्षाके लिए जो आज्ञा हो सो करूँ।' ऋषिने यह कठोर वचन सुनकर भी मुझे कठोर शाप न दिया। वे शोकातुर होकर बोले—'राजन्! यदि तुम स्वयं मुझसे अपना किया हुआ यह अशुभ कर्म न कहते तो अवश्य ही तुम्हारे सिरके लाखों टुकड़े हो जाते। तुमने जान-बूझकर यह कर्म किया होता तो सारा रघुकुल नष्ट हो जाता। तुम हमें वहाँ ले चलो जहाँ मेरा पुत्र पड़ा है, हम अन्तिम समय उसे फिर देख लें। मैं उन्हें वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्रपर गिरकर विलाप करने लगे। पुत्र दिव्यरूप हो स्वर्गको प्राप्त हुआ और इन्द्रके साथ उस तपस्वीने पिता-माताको आश्वासित करके कहा—'आपकी सेवासे मैं इस उच्च स्थानपर पहुँचा, आप भी शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे।' दोनोंने पुत्रको जलाञ्जलि देकर हाथ जोड़कर मुझसे कहा—'तुम हमें भी बाणसे मार डालो। तुमने अज्ञानसे हमें अपुत्र बना डाला; अतएव मैं तुम्हें भी बहुत कठोर दुःखदायी शाप दूँगा—जिस प्रकार मैं पुत्रकी मृत्युका दुःख भोग रहा हूँ, इसी तरह तुम भी पुत्र-शोकसे ही मरोगे।

जैसी हमारी भयानक प्राण लेनेवाली दशा हो रही है वैसी ही तुम्हारी भी होगी। यथा—'**पुत्र व्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्। एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसि॥**' (६४।५४) इस प्रकार शाप देकर दोनों चितामें जलकर स्वर्गको गये। उस उदार मुनिका वह वचन आज फल रहा है।

वि० त्रि०—'*तापस अंध''सुनाई*' इति। चक्रवर्तीजीने श्रीरामजीसे प्रश्न किया था कि '*सुनहु राम तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं॥ करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥ और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग। अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोग॥*' पर माधुर्यकी रक्षा करते हुए सरकारने कोई उत्तर नहीं दिया। पर संशय हटाना इष्ट रहा; अतः अन्तिम कालमें तापस अंधकी कथा स्मृतिपथपर आरूढ़ कर दिया।

वीरकवि—शरीर सबको आदरणीय है। पर 'इसने प्रेमपन' नहीं निबाहा, इस विशेष दोषके कारण त्याग करनेका निश्चय 'तिरस्कार अलङ्कार' है।

**दो०—राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।**
**तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥१५५॥**
**जिअन मरन फलु दसरथु पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥१॥**
**जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि* मरन सँवारा॥२॥**
**सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूपु सील बलु तेज बखानी॥३॥**
**करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥४॥**
**बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदन करहिं पुरबासी॥५॥**
**अथएउ आजु भानुकुल भानू। धरम अवधि गुन रूप निधानू॥६॥**
**गारी सकल कैकइहि देहीं। नयन बिहीन कीन्ह जग जेहीं॥७॥**
**एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आए सकल महामुनि ग्यानी॥८॥**

अर्थ—राम राम कहकर (फिर) राम कहकर, फिर राम राम कहकर फिर राम कहकर रघुवरके वियोग-दुःखमें शरीर छोड़कर राजा सुरलोक सिधारे॥१५५॥ जीने-मरनेका फल (तो) श्रीदशरथजीने पाया। उनका निर्मल यश अनेक ब्रह्माण्डोंमें छा गया॥१॥ जीतेजी श्रीरामचन्द्रजीका मुखचन्द्र देखते रहे और रामवियोगमें उनके विरहसे मरकर अपना मरण सँवारा (सुशोभित कर दिया, बना लिया)॥२॥ सब रानियाँ शोकके मारे व्याकुल रो रही हैं, राजाके रूप, शील, स्वभाव, बल और तेज-प्रतापका बखान कर-करके अनेक प्रकारसे विलाप कर रही हैं और बारम्बार जमीनपर गिरती पड़ती हैं॥३-४॥ दास-दासीगण व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं। श्रीअयोध्याजीके प्रत्येक घरमें पुरवासी रो रहे हैं॥५॥ (कहते हैं कि) आज धर्मकी सीमा और गुण-रूपके खजाना सूर्यकुलके सूर्य अस्त हो गये॥६॥ सब कैकेयीको गाली देते हैं कि जिसने संसारभरको नेत्ररहित (अंधा) कर दिया॥७॥ इस तरह विलाप करते रात बीती। (प्रातःकाल) सब ज्ञानी महामुनि आये॥८॥

नोट—छः बार 'राम' 'राम' कहकर शरीर छोड़नेके अनेक भाव लोग कहते हैं—

पु० रा० कु०—(क) षट् चक्र बेधकर प्राण छोड़े। (ख) षडङ्गन्यास किये (ग) षट् विकार जीते (घ) पञ्च विषय और मनको जीता (ङ) षडङ्ग करके उच्चारण किये (च) पाँचों तत्त्व पाँचोंमें मिले,

* राजापुरकी पोथीमें 'करि' पाठ है। रा० प०, को० रा० में भी यही पाठ है। भरि—भा० दा०, वन्दन पाठक, रा० कु०। भरि—गौड़जी, प्र० सं०। 'मरण' को दीपदेहली मानकर अर्थ करनेसे 'करि' पाठका अर्थ लग जाता है। देशी भाषामें 'करि'=करके अर्थात् द्वारा, निमित्त करके।

छठा आत्मा परमात्मामें मिला। कहि, कहि, कहि तीन बार कहा; क्योंकि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनोंका यह सिद्धान्त है। अथवा, वेदत्रयीका सिद्धान्त यही है। अथवा, 'त्रिवाचा रघुवर ये ही राम, अलख निरंजन नहीं।' (छ)—वियोग-समय श्रीराम-नामकी धारणा लगी हुई थी; दोहेकी पूर्तिके लिये छः बार कहा। वा, (ज) छठा दिन यात्राका है इससे। इत्यादि।

बैजनाथजी—'कर्म, ज्ञान, उपासना तीन मार्ग भगवत्-आराधनाके हैं। उपासनामें नवधा भक्ति नौ प्रकारकी है और प्रेमाभक्तिमें दस दशाएँ होती हैं। भक्ति, ज्ञान आदि सब महाराजमें परिपूर्ण हैं तो भी लोकोद्धारके लिये उन्होंने कर्ममार्गपर ही आरूढ़ रहना पसन्द किया। प्रभुके दर्शन हुए पर उन्होंने पराभक्ति न माँगी, पुत्र होना माँगा। इसी सवासिक कर्मग्रहणसे षडङ्ग कर्मसे छः ही बार राम-राम कहकर कर्ममार्गसे देवलोकको गये, यह इनकी इच्छा है।

(☞ स्मरण रहे कि *'सगुण उपासक मोक्ष न लेहीं।'* वे तो सदा प्रभुके साथ लीलामें रहना चाहते हैं। जबतक प्रभु वहाँ हैं तबतक एक पाद विभूतिमें रहना उन्होंने पसन्द किया।)

वि० त्रि०—छः बार रामनामके इकट्ठे उच्चारणसे मुदमङ्गलका उदय होता है और पाप तथा अमङ्गल घटता है, अतः सुरधाम यात्राके समय महाराजने छः बार राम-राम कहा। यथा—*'राम राम राम राम राम राम जपत। मंगल मुद उदित होत अघ अमङ्गल घटत॥ दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत।'*

श्रीबैजनाथजी—परमधामको क्यों न गये? यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि श्रीदशरथजी जीवकोटिमें नहीं हैं, ईश्वरकोटिमें हैं। मनुमहाराज चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं। वे लोकहितार्थ देह धारण करके जहाँ चाहें वहाँ रहें। वे सदा आनन्दमूर्ति हैं, मायाके बन्धनमें नहीं हैं; वे मुक्तरूप हैं। वे ही दशरथरूपसे अवधमें रहे, अब स्वर्गसे श्रीरामराज्य देखेंगे और प्रभुके साथ परधामको जायँगे।

बाबा हरिहरप्रसादजी—महाराजने मनमें विचारा कि हमने रघुनाथजीको लौटानेके बहुत उपाय किये, पर वे न लौटे और बिना उनके देखे मैं रह नहीं सकता, अतः मुझे ऐसी जगह चलना चाहिये जहाँसे बैठे-बैठे उनको देखता रहूँ। इन्द्र सखा हैं। वहीं स्वर्गमें चलूँ, यह निश्चयकर वहीं गये और शरीरको इसलिये छोड़ दिया कि इस शरीरने रामराज्य भंग कराया है, इसका रखना उचित नहीं। कोई-कोई कहते हैं कि राज्याभिषेक देखनेकी वासना थी। उसे पूरी करनेके लिये श्रीरामजीने उनको स्वर्गमें रखा।

श्रीनंगे परमहंसजी—छः बार राम-राम क्यों कहा। समाधान यह है कि ग्रन्थकारने राम ही शब्दसे दोहेका पद पूरा करके यह भाव प्रकट किया है कि श्रीदशरथजी महाराजने राम-ही-राम कहते प्राण छोड़े हैं। दूसरा शब्द नहीं उच्चारण किया है, उसी प्रकार ग्रन्थकारने भी श्रीराम-नामसे ही पदकी पूर्ति की है। अतः छः बार राम-नाम पदमें लिखा है।

दूसरी शंका यह की जाती है कि 'जो मरते समय एक बार भी राम-नाम उच्चारण करता है वह वैकुण्ठ-(परधाम-) को जाता है और दशरथ महाराज मरते समय छः बार राम-राम कहकर सुरलोकको गये। इसका क्या कारण है?' इसका समाधान यह है कि श्रीरामजी अपने भक्तोंकी पूर्व वासना पूरी करते हैं। श्रीदशरथजीको श्रीराम-राज्याभिषेक देखनेकी इच्छा थी। इसीसे श्रीदशरथ महाराजको अभी मुक्त नहीं किया, सुरलोकमें रखा। जब स्वयं वैकुण्ठ-(परधाम-) को जायँगे तब साथ ले जायँगे। प्रमाणमें ध्रुवका दृष्टान्त है। ध्रुवकी पूर्व वासना राज्यकी थी। पर जब भगवान्ने उनको दर्शन दिये तब उन्होंने राज्यकी चाह न की। तथापि भगवान्ने उन्हें ३६००० वर्ष राज्य करनेकी आज्ञा दी; क्योंकि इसी वासनासे तप प्रारम्भ किया था। इसी तरह सुग्रीव और विभीषणजीको भी उनके पूर्व वासना-अनुसार राज्य कराया गया। वही नियम दशरथजीके सम्बन्धमें लागू हुआ, नहीं तो *'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुति होइ श्रुति गावा॥'* तब भला श्रीदशरथमहाराजके लिये क्या कहना? वे सुरलोकसे अवधका सारा आनन्द देखते रहे। रावणवधपर इन्द्रादिके साथ लंकामें भी प्रभुके दर्शनोंको आये थे।

कोई कहते हैं कि मोहमें शरीर छोड़ा इससे स्वर्गको गये। यह कथन उपर्युक्त श्रुति-सिद्धान्तके विरुद्ध

है, अधमाधम भी रामनाम उच्चारण करनेसे मुक्त हो जाता है। अजामिल, यवन, गणिका आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। श्रीरामनाम मुक्ति देनेमें कर्म-ज्ञानादिकी अपेक्षा नहीं रखता।

टिप्पणी—१ *'जियन मरन फलु दसरथ पावा'''* इति। (क) किसीका जीवन बनता है पर मरण-समय दुर्गति होती है और किसीका जीवन अनेक दुःखोंसे भरा व्यतीत होता है पर मरण बन जाता है। जीवन और मरण दोनों नहीं बनते। पर दशरथजीको दोनों फल मिले। मिलान कीजिये—*'राम बिरह दसरथ मरन मुनि मन अगम सुमीचु। तुलसी मङ्गल मरन तरु सुचि सनेह जलु सींचु॥'* (२२) *'जीवन मरन सुनाम जैसे दसरथ राय को। जियत खेलायो राम राम बिरह तनु परिहरेउ॥'* (२२१) (दोहावली)। (ख) 'अमल यश' ऐसा है कि ब्रह्माण्डोंको पवित्र कर दे।

टिप्पणी—२ *'राम बिरह करि मरनु सँवारा'*—भाव कि और किसी प्राकृत पुरुषका विरह होता तो दुर्गति होती, रामविरहसे सुगति हुई। [(ख) पहले जीने-मरनेका फल कहकर फिर उसी क्रमसे उसका वर्णन करना यथासंख्य अलङ्कार है। श्रीरामविरहमें होनेसे मृत्युरूपी दोषको गुणरूप वर्णन करना 'लेश अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी—३ (क) *'रूप सील बल तेज बखानी'* इति। रूप=सौन्दर्य। राजा ऐसे सुरूपवान् थे कि कैकेयीने उनसे विवाह करनेके लिये अपने पितासे हठ ठानी। 'शील' यह कि अपने मुखसे पुत्रको वन जानेको नहीं ही कहा। 'बल' ऐसा कि इन्द्र इनके बलके भरोसे रहते, लोकपाल इनका रुख रखते, दसों दिशाओंमें इनका रथ बिना रोक-टोकके जाता था, इत्यादि। 'तेज' ऐसा कि *'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥'* ये रूप, शील, बल, तेजके निधान थे; इसीसे इनके चारों पुत्र वैसे ही हुए या यों कहिये कि राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न एक-एक क्रमशः एक-एक गुण ही मानो स्वरूप धरकर पुत्र हुए। (ख) [राजा दशरथजी आलम्बन विभाव हैं। उनके मरणसे उत्पन्न हुआ शोक स्थायीभाव है। रूप-शीलादिका स्मरण उद्दीपन विभाव है। रोना, धरतीपर गिरना अनुभाव है। विषाद, चिन्ता, मोह, चपलता, आवेग, अपस्मार, उन्माद, त्रास आदि संचारी भावोंसे बढ़कर शोक पूर्णावस्थाको पहुँचकर करुणरस हुआ है। (वीर)]

नोट—१ *'करहिं बिलाप अनेक प्रकारा।'''* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वे हाथ उठाकर बड़े शोक और दुःखसे रोने लगीं। महाराज सत्यप्रतिज्ञ प्रियवादी श्रीरामचन्द्रसे हीन हम लोगोंका त्याग क्यों कर रहे हैं। हम विधवाएँ दुष्टा कैकेयी सौतके पास कैसे रहेंगी? सर्वसमर्थ, हमारे तथा आपके स्वामी और धीर श्रीराम ही इस राज्यलक्ष्मीको छोड़कर वनको चले गये। आप दोनोंके न रहनेसे हम लोग दुःखविमूढ़ हो गयी हैं, हमारा कर्तव्य-ज्ञान नष्ट हो गया है। जिस कैकेयीने आपका, राजाका, रामका, लक्ष्मणका तथा सीताका परित्याग किया है, वह और किस-किसका परित्याग न कर सकेगी? इस प्रकारका बहुत-सा विलाप किया। यह तथा और भी जो जिस रामायणमें लिखा है वह सब *'अनेक प्रकारा'* से जना दिया। (सर्ग ६६)

नोट—२ *'घर घर रुदन करहिं पुरबासी'*, यथा—**'आक्रन्दिता निरानन्दा सास्रकण्ठजनाविला। अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी॥'** (६७। १) **'बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना।'** (वाल्मी० ६६। २५) अर्थात् उस रातको अयोध्यामें सभी रोते रहे, सभी आनन्दहीन थे, सभीका गला दुःखसे भरा था, सभी स्त्रियाँ हाहाकार कर रही थीं। वह लम्बी रात्रि इस तरह व्यतीत हुई।

नोट—३ (क) *'गारी सकल कैकइहि देहीं'* इति। नगरकी स्त्रियाँ और पुरुष सभी दल-दलमें एकत्र होकर कैकेयीकी निन्दा करने लगे। यथा—**'नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।'** (वाल्मी० (२। ६६। २९) (ख) *'नयन बिहीन कीन्ह'''*—भाव कि राजा नेत्रोंके समान सबको प्रिय थे। उन्हींकी आँखोंसे सब देखते थे। उनके बिना इस समय संसार अन्धकारमय हो गया, किसीको कुछ नहीं सूझता। पंजाबीजीका मत है कि राजा नेत्रोंके समान सबको सुखद थे। अथवा श्रीराम-लक्ष्मण दोनों नेत्र

हैं उनसे विहीन किया। (ग) राजाको मार डाला, संसारको अनाथ कर डाला, ऐसा न कहकर उसका प्रतिबिम्बमात्र कहना 'ललित अलङ्कार' है। (वीर)

नोट—४ *'आए सकल महामुनि ज्ञानी'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशस्वी जाबालि तथा वसिष्ठजी आये थे, उन्होंने सभा की। अन्तमें श्रीवसिष्ठजीके आदेशानुसार कार्य किया गया।

**दो०—तब बसिष्ठ मुनि समय सम कहि अनेक इतिहास।**
**सोक निवारेउ सबहि कर निज बिग्यान प्रकास॥१५६॥**
**तेल नाव भरि नृप तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा॥१॥**
**धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू॥२॥**
**एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुर बोलाइ पठयेउ* दोउ भाई॥३॥**
**सुनि मुनि आयसु धावन धाए। चले बेग बर बाजि लजाए॥४॥**

अर्थ—तब वसिष्ठ मुनिने, समयानुकूल अनेक इतिहास (की कथाएँ) कहकर और अपने विज्ञानके प्रकाशसे सबका शोक दूर किया॥१५६॥ श्रीवसिष्ठजीने नावमें तेल भरवाकर राजाका शरीर उसमें रखा; फिर दूतोंको बुलाकर ऐसा कहा॥१॥ दौड़कर जल्दीसे भरतजीके पास जाओ, राजाका समाचार कहीं किसीसे मत कहना॥२॥ भरतसे जाकर इतना ही कहना कि दोनों भाइयोंको गुरुजीने बुला भेजा है॥३॥ मुनिकी आज्ञा पाकर दूत दौड़ चले। अपनी तेजीसे वे उत्तम-उत्तम घोड़ोंको लज्जित करते हुए चले जा रहे हैं॥४॥

नोट—१ *'सोक निवारेउ।'* इति। वसिष्ठजीने कहा कि राजा सत्यसंध थे, बड़े सुकृती थे। उनकी-ऐसी मृत्यु मनुष्योंको दुर्लभ है। हरिश्चन्द्र आदिने कैसे संकट सहे और ये तो रामविरहमें तुरत ही शरीर छोड़ अपना प्रेम सच्चा करके परधामको गये। मृत्यु तो एक दिन सबकी होनी है वह टलती नहीं। '**चलेत्सुमेरुर्विचलेच्च मन्दरश्चलन्ति तारा रविचन्द्रमो ग्रहाः। कदापि काले पृथिवी चलेदपि चलेन्न धर्मो वचनं च सन्नृणाम्॥**' राजाने धर्म नहीं छोड़ा। यहाँ राज किया अब दिव्य हो देवलोकमें हैं। इत्यादि—शास्त्रीय ज्ञान उपदेश किया। फिर *'निज बिग्यान प्रकास'* अर्थात् अपना अनुभव कहा। जैसे महादेवजीने पहले श्रुति आदिके अनुसार जैसा सुना था कहा—*'तदपि जथा श्रुत कहौं बखानी'*। फिर अपना अनुभव कहा, यथा—*'उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'* वैसे ही वसिष्ठजीने कहा कि यह जगत् स्वप्नवत् है, एक हरिभजन ही सत्य है—यह विज्ञान है। इसी तरह भुशुण्डिजीने कहा था—*'संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनायउँ सोइ'* यह शास्त्रीय ज्ञान कह तब कहा *'निज अनुभव अब कहौं खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा॥'* यह अनुभव है। जो अपनेको देख पड़े, समझ पड़े, वह अनुभव है।

नोट—२ *'तेल नाव भरि…'* इति। पुत्रोंमेंसे कोई उपस्थित न था जो अग्नि-संस्कार करता। इसीसे राजाके शरीरको मन्त्रियों तथा राजाके मित्रोंने सर्वज्ञ वसिष्ठजीके आज्ञानुसार तेलपूर्ण नावमें सुरक्षित रखा। यथा—'**तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्। राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम्॥**' (२। ६६। १४) '**न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः। सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम्॥**' (१५) '**तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्॥**' (१६)

नोट—३ *'दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा'* से दूतोंसे स्वयं वसिष्ठजीका कहना पाया जाता है। ऐसा ही अ० रा० में है—'**तैलद्रोण्यां दशरथं क्षिप्त्वा दूतानथाब्रवीत्।**' (२। ७। ५०) वाल्मीकीयमें मन्त्रियोंको दूत भेजनेकी आज्ञा दी है।

* पठयउ—गी० प्रे०। पठए—पाठान्तर प्र० सं०। पठयेउ—रा० प०।

नोट—४ '*धावहु बेगि भाई*' इति। इसी तरह वाल्मीकीयमें वसिष्ठजीका आदेश है कि दूत तेज घोड़ोंपर जायँ। भरतसे रामवनगमन, राजाकी मृत्यु और इस कारण रघुवंशियोंका जो सर्वनाश हुआ है यह कुछ न कहें—'**मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम्। भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम्॥**' (६८। ८) पुरोहित-(गुरु-) ने कुशल कहा है। शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चलो, तुमसे आवश्यक काम है—बस, इतना कहना। अ० रा० में दूतोंने भरतसे कहा है कि गुरुजीने कहा है कि छोटे भाईसहित आप बिना कुछ सोचे-विचारे अयोध्यापुरीको चले जावें। वैसा ही मानसमें है।

राजहीन देश वैसा ही है जैसा बिना जलकी नदियाँ, बिना गोपालकी गौ। उसमें मनुष्यका कुछ भी अपना नहीं होता। मछलियोंके समान मनुष्य एक-दूसरेको खा जाते हैं। राजहीन राष्ट्रकी क्या दशा होती है यह मार्कण्डेय आदि महर्षियोंने वाल्मी० २। ६७ में श्रीवसिष्ठजीसे विस्तारसे कहा है। यह भी कहा है कि किसीको राजा बना देना चाहिये। इसपर वसिष्ठजीने उत्तर दिया कि इसमें विचारकी बात ही क्या है; भरतको राजाने राज्य दिया है, वे शीघ्र बुलाये जावें। क्योंकि '*जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।*' राजाने भरतको राज्य देना स्वीकार किया है—'*सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राज बजाई॥*' (३१। ८) और सत्यकी रक्षाके कारण ही उन्होंने शरीर छोड़ना स्वीकार किया। अतः भरतको ही बुलाना न्याय था।

नोट—५ '*दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा*""' इति। (क) देखिये, मन्त्रियोंकी नीति-निपुणता। राजहीन देश सुनकर शत्रु आ चढ़ेंगे, इससे इस बातका छिपाना परमावश्यक है। (ख) '*सुनि आयसु धाए*' में 'चपलातिशयोक्ति और पञ्चम प्रतीप अलङ्कार' है।

वि० त्रि०—१ (क) यद्यपि रामजी बहुत सन्निकट हैं और भरतजी बहुत दूर हैं, तथापि गुरुजी भरतके ही पास दूत भेजते हैं, क्योंकि चक्रवर्तीजी उन्हींको उत्तराधिकार दे गये हैं। रामजीको समाचार देना उन्हें धर्मसंकटमें डालना है। (प्रज्ञानानन्दस्वामीका मत है कि रामजीके आने और भरतजीको न बुलानेसे कैकेयीको शंका होगी कि गुरु और राम मिलकर भरतकी सत्ता छीनना चाहते हैं।) (ख) '*कहेहु जनि काहू।*' यह रियासतोंकी बड़ी पुरानी नीति है। जो आजतक चली जाती है कि जबतक राज्यका पूरा इन्तजाम न हो ले राजाकी मृत्युका समाचार छिपाया जाता है। इसलिये गुरुजी कहते हैं कि '*नृप सुधि कतहुँ कहेउ जनि काहू।*' इसीसे यह भी पता चलता है कि इस बातकी पूरी सावधानी रखी गयी कि यह समाचार अयोध्यासे बाहर न जाने पावे। (विशेष १५७ (५-८) में देखिये।)

'*सचिवागमन नगर नृप मरना*'—प्रकरण समाप्त हुआ।
द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड) का पूर्वार्ध समाप्त हुआ।
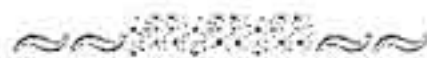
श्रीसीताराम। श्रीभरतचरणकमलेभ्यो नमः।
श्रीमद्‌गोस्वामितुलसीदासचरणकमलेभ्यो नमः। श्रीसन्तभगवन्तगुरुचरणकमलेभ्यो नमः।
मङ्गलमूर्तये श्रीहनुमते नमः।

# मानस-पीयूष

## अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध-श्रीभरतचरित

### "भरतागमन-प्रेम-प्रकरण"

**अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होंहि भरत कहुँ तब तें॥५॥**
**देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥६॥**
**बिप्र जेंवाइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥७॥**
**मागहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥८॥**

शब्दार्थ—**अनरथु** (अनर्थ)=उपद्रव, उत्पात, अनिष्ट, बुरी घटनाएँ। **अरंभेउ**=आरम्भ या शुरू हुआ। **कुसगुन**=बुरे शकुन, अपशकुन। **कलपना** (कल्पना)=अनुमान, उद्भावना, अन्तःकरणमें ऐसी वस्तुओं, आशङ्काओं या घटनाओंको उपस्थित करना जो उस समय इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित नहीं होतीं, सोच-विचार। **जेंवाइ** (सं० जेमन)=भोजन कराके। **अभिषेक** (अभि=ऊपर+सिच्=सिंचन)=बाधा-शान्ति वा मङ्गलके लिये मन्त्र पढ़कर कुश और दूबसे जल छिड़कना, शिवलिंगके ऊपर तिपाईके सहारेपर जलसे भरकर एक ऐसा घड़ा रखना जिसके पेंदमें धीरे-धीरे पानी टपकनेके लिये बारीक छेद हो। (श० सा०)=पूजा, जाप, हवन, मार्जन—(बैजनाथ)

अर्थ—जबसे अवधमें अनर्थ प्रारम्भ हुआ तबसे ही भरतजीको अपशकुन हो रहे हैं॥५॥ वे रातमें भयंकर स्वप्न देखते हैं और जागनेपर अनेक बुरी-बुरी कल्पनाएँ किया करते हैं अर्थात् दुःस्वप्नके बुरे-बुरे फल विचारते व तर्कनाएँ करते रहते हैं॥६॥ (शान्तिके लिये) नित्यप्रति दिनमें ब्राह्मणोंको भोजन कराकर दान देते हैं, अनेक प्रकारसे शिवजीका अभिषेक करते हैं॥७॥ महादेवजीको मनमें मनाकर मन-ही-मन माता, पिता, कुटुम्बी और भाइयोंका कुशल माँगते हैं॥८॥

नोट—१ *'देखहिं राति भयानक सपना'* इति। वा० सर्ग ६९ में दुःस्वप्नको भरतजीने मित्रोंसे बताया है—'पिताके बाल खुले हैं, वे मुरझाये हुए पर्वतसे गोबर भरे तालाबमें गिर पड़े, तैरते और तेल पीते हँस रहे हैं। फिर उन्होंने तिल, चावल खाया, सिर नीचे हो गया है, वे तेलमें डुबाये गये। समुद्र सूख गया, चन्द्रमा भूमिपर गिर पड़ा, जगत् निशाचरोंसे पीड़ित है। राजाके हाथीके दाँत टूट गये, अग्नि सहसा बुझ गयी, पृथ्वी फट गयी, वृक्ष सूख गये, पर्वत गिर गये और उनसे धुआँ निकल रहा है। मैंने देखा कि पिता काले कपड़े पहने लोहेके पीढ़ेपर बैठे हैं और कृष्ण पिङ्गल रंगकी स्त्रियाँ उन्हें मार रही हैं। राजा लाल माला पहने लाल चंदन लगाये गधेके रथपर बैठे दक्षिणको जा रहे हैं। खूनके रंगके वस्त्र पहने हुए विकट मुखवाली एक राक्षसी हँसती है और राजाको खींच रही है। गधेपर जो मनुष्य गया उसकी चितासे धुआँ निकल रहा है। ऐसे ही अनेक दुःस्वप्न मैंने देखे हैं। मेरे मनमें भय बैठ गया है। मैं सोचता हूँ कि अब राजाके दर्शन न होंगे। मेरा मन चञ्चल है। मैं, रामचन्द्रजी, राजा या लक्ष्मण कोई अवश्य मरेगा।' (श्लो० ७—२१)

शुक्लजी—ननिहालसे लौटनेपर ही भरतके शील-स्वरूपका स्फुरण होता है। ननिहालमें जब दुःस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं तब वे माता, पिता और भाइयोंका मङ्गल मनाते हैं। कैकेयीके कुचक्रमें अणुमात्र योगके संदेहकी जड़ यहींसे कट जाती है।

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ काण्डके आदिमें *'बरनौं रघुबर बिमल जस'* पद दिया था। रघुवरसे राम और भरत दोनोंका बोध कराया। दोनोंका चरित इसमें वर्णन किया है। अतएव आदिमें श्रीरामजीका नाम है—*'जब तें राम ब्याहि घर आये'* और अन्तमें भरतजीका—*'भरत चरित करि नेम'''''।'* आदिसे यहाँतक १५६ दोहोंमें रामचरित कहा गया। अब भरत-चरित प्रारम्भ होता है; परंतु यहाँ प्रथम १४ दोहोंमें *'धावहु बेगि भरत पहिं जाहू'* से *'पितु हित भरत कीन्हि जस करनी।'* (१७१। १) तक पिताकी क्रियाका प्रसंग है, मुख्य भरतचरित इसके आगेसे प्रारम्भ होकर १५६ ही दोहोंमें समाप्त हुआ है।

टिप्पणी-२—पिताकी क्रियाके प्रसङ्गमें १४ दोहे देकर यह भी जना दिया है कि पिताकी 'करनी' में १४ दिन लगे, तब पंद्रहवें दिन दरबार हुआ।

टिप्पणी-३—मुनिने भरतको क्यों बुलाया, वे तो बहुत दूर थे, रामचन्द्रजी निकट ही थे, इनको क्यों न बुलाकर क्रियाकर्म करा लिया? कारण यह कि पिताके निमित्त हाथी, घोड़े, मणि, पृथ्वी आदिका दान करना होगा। भरत राजा हैं, जो राजा है वही राज्यकोषसे दे सकता है, दूसरा नहीं। पुनः,जो राज्यका अधिकारी होता है,वह क्रिया करनेका भी अधिकारी होता है। (राज्यसिंहासन खाली है, राजा भरतको राज्य दे चुके हैं, अतः उनके आनेसे दोनों काम होंगे। और श्रीरामजी तो राज्य ग्रहण ही न करेंगे, उनको बुलाना व्यर्थ होगा। पुनः वे अब उदासी वेष धारण कर चुके हैं। पुनः भरतजीके आनेसे कैकेयीकी कुमति भी सुधर सकेगी;—**'अयोध्यां प्रति राजानं कैकेयीं चापि पश्यतु।'** (२। ७। ५२) अध्यात्मके इन वसिष्ठवाक्योंमें यह ध्वनि भी है।)

**दो०—एहि बिधि सोचत भरत मन धावन पहुँचे आइ।**
**गुरु अनुसासन श्रवन सुनि चले गनेसु मनाइ॥ १५७॥**

शब्दार्थ—*'धावन'*=बहुत जल्दी या दौड़कर जानेवाला, हरकारा, दूत।

अर्थ—भरतजी इस प्रकार मनमें सोच-विचार कर ही रहे थे कि दूत आ पहुँचे। गुरुकी आज्ञा कानोंसे सुनकर गणेशजीको मनाकर चले॥ १५७॥

नोट—(क) *'गुरु अनुसासन श्रवन सुनि'* इति। यहाँ दूतोंकी शीघ्रता तथा भरतकी शीघ्रता कवि लेखनीद्वारा दिखा रहे हैं। इतने ही शब्दोंसे जना दिया कि यथोचित अभिवादन करके दूतोंने सँदेसा सुनाया जो पूर्व लिखा गया, सुनते ही उन्होंने नानासे आज्ञा ली और चल पड़े।

नोट-२—भरतजीने कुशल क्यों नहीं पूछा? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह देते हैं कि—(क) यहाँ इनकी गुरुभक्ति दिखायी है, शीघ्र आनेकी आज्ञा सुन तुरत चल दिये, कुछ पूछा नहीं। (ख) इससे जनाया कि *'उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥'* यह नीति भरतजी जानते हैं, अतः उन्होंने अविलम्ब आज्ञाका पालन किया। (प० प० प्र०) (ग) भरत दुःस्वप्नोंसे शंकित-हृदय थे ही, गुरुकी आज्ञा और भी सुन भयसे विह्वल हो गये। अनिष्टके भयके मारे पूछनेका साहस भी नहीं हुआ। यह बात अध्यात्मसे पुष्ट होती है। यथा—**'वसिष्ठस्त्वब्रवीद्राजन् भरतः सानुजः प्रभुः॥ शीघ्रमागच्छतु पुरीमयोध्यामविचारयन्। इत्याज्ञप्तोऽथ भरतस्त्वरितं भयविह्वलः॥'** (५३-५४) अर्थात् गुरु-आज्ञा है कि बिना विचार किये शीघ्र अयोध्या आवें। अतएव वे भयसे व्याकुल हो तुरत चल दिये। (घ) जो अपशकुन भरतजीको हुए और जो भयानक स्वप्न उन्होंने देखा, उसका उपचार करते हुए भी भरतजीको माता-पिता, परिजन और भाईके कुशलमें संदेह हो रहा है, उसी समय गुरुजीके भेजे दूत आ पहुँचे, और उन्होंने गुरुजीका अनुशासन कह सुनाया कि आप दोनों भाइयोंको गुरुजीने बुलाया है। भरतजीके मनमें संदेह दृढ़ हो गया। महाराजने न बुलाकर गुरुजीने क्यों बुलाया? दूतोंके रुखसे मालूम हो गया कि वे कुछ अधिक कहना नहीं चाहते। भरतजी सोचते हैं कि जब गुरुजीकी इच्छा है कि अवध पहुँचनेके पहिले मैं कोई समाचार न जान सकूँ, इसीलिये कोई चीठी भी नहीं दी, तो मुझे भी जितना दूत कह रहा है, उससे

अधिक जाननेके लिये प्रयत्न न करना चाहिये। चलनेमें ही त्वरा कर्तव्य है। अतः तुरंत 'जय गणेश' कहकर चलनेके लिये उठ खड़े हुए। (वि० त्रि०)

नोट-३—वाल्मीकिजी कुशल-प्रश्न करना लिखते हैं। पर दूतोंने यही उत्तर दिया कि जिनका कुशल आप चाहते हैं वे सकुशल हैं। लक्ष्मी आपका वरण कर रही है, आप शीघ्र रथ जुतवाइये। (सर्ग ७०)

नोट-४—*'चले गनेसु मनाइ'* अर्थात् गुरु-आज्ञा-पालनमें इतनी शीघ्रता की कि दोघड़िया मुहूर्त भी न साधा, सिद्ध गणेशका स्मरण करके चल दिये। इससे हृदयकी शङ्का एवं आतुरता भी जनाये हैं।

नोट-५—यह भी जनाते हैं कि उन्होंने बिदाईका सामान साथ नहीं लिया, कह दिया होगा कि पीछे भेज देना।

नोट-६—श्रीमन्त यादवशंकरजी लिखते हैं कि 'यह वर्णन स्वयं कल्पित है। इससे सहज ही दीख पड़ेगा कि स्वामीजी स्वभावोक्ति और व्यवहार-शिक्षाकी ओर कैसी सूक्ष्मतासे ध्यान रखते थे।'

**चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन बाँके॥ १॥**
**हृदउ* सोचु बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जिअँ जाउँ उड़ाई॥ २॥**
**एक निमेष बरष सम जाई। एहि बिधि भरत नगर निअराई॥ ३॥**

शब्दार्थ—**नाघत** (लंघन)=लाँघते हुए। लाँघना=इस पारसे उस पार उछलकर जाना। **बाँके**=विकट, टेढ़े, कठिन, दुर्गम। **जाई**=बीतता है, गुजरता है। **जानहिं**=विचार करते हैं।

अर्थ—वे हवाके समान वेगवाले घोड़ोंको हाँकते हुए दुर्गम नदियों, पर्वतों और जंगलोंको लाँघते चले जाते हैं॥ १॥ मनमें बड़ा सोच है, कुछ सोहाता नहीं (अच्छा नहीं लगता)। मनमें ऐसा विचार आता है कि उड़कर पहुँच जाऊँ॥ २॥ एक पल एक वर्षके समान बीत रहा है। इस प्रकार भरतजी नगरके निकट पहुँचे॥ ३॥

नोट—१ *'चले समीर बेग हय हाँके।'''* इति। (क) भाव कि चित्त इतना व्याकुल है कि पवनवेगी घोड़ोंपर सवार होनेसे भी उन्हें सन्तोष नहीं है, इसीसे वे उनको अधिक वेगसे चलनेके लिये हाँकते हैं। 'हाँकि' से वाल्मीकिके '**भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः। वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये॥**' (७१। १७) का भाव भी खिंचकर आ जाता है कि घोड़ोंके थक जानेपर भी भरतजीने अन्तिम रात्रिमें वनको पार किया। (ख) *'नाघत सरित सैल'''* इति। सुदामा, ह्लादिनी शतद्रु, शिला, शिलावह, सरस्वतीगङ्गासङ्गम, कुलिङ्गा, यमुना, गङ्गा, कुटिकोष्टिका, कुटिका, कपिवती,गोमती आदि नदियाँ, अनेक पर्वत और चैत्ररथ, भारुण्ड, महारण्य, वरूथग्रामका वन, कलिङ्ग नगरके वन इत्यादि राहमें पड़े।

नोट-२—*'हृदउ सोचु बड़ कछु न सोहाई।'''* इति। (क) यद्यपि घोड़े बड़ी त्वरासे पर्वतों, नदियोंको पार करते हुए जाते हैं तब भी श्रीभरतको संतोष नहीं। वे चाहते हैं कि उड़कर वहाँ पहुँच जाते। ये सब बातें हृदयके 'सोचु बड़' और आतुरतको जना रहे हैं। (ख) भरतजीका हृदय व्याकुल था, वे सोचते थे कि मैं शीघ्र बुलाया गया, पर कुछ कारण नहीं बतलाया गया। इससे मेरे हृदयमें अशुभकी आशंका हो रही है। मेरा जी भीतरसे गिर रहा है यथा वाल्मीकीये—'**किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ। अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे॥**' (७१। ३५) अध्यात्ममें भी कहा है कि भरतजी मार्गमें यह चिन्ता करते हुए नगरमें पहुँचे कि राजा या राघवको कुछ दुःख है—'**राज्ञो वा राघवस्यापि दुःखं किंचिदुपस्थितम्। इति चिन्तापरो मार्गे चिन्तयन्नगरं ययौ॥**' (७। ५५-५६) (ग) सोचके कारण १५७(६) में लिखे गये। दुःस्वप्न, गुरुकी आज्ञा, दूतोंका चलनेके लिये शीघ्रता करना और कुछ हाल न बताना, इन बातोंने उनकी कटु कल्पनाओंको सहारा दे दिया जिससे अनिष्टकी सम्भावना अधिक होनेसे भारी सोच हो गया। प्रथम 'सोच' था, यथा—*'एहि बिधि सोचत भरत'*, अब 'बड़ सोच' है। (घ) *'कछु न सोहाई'* अर्थात् खाना,

* हृदय—गी० प्रे०। हृदउ—रा० प०।

पीना, विश्राम, नींद कुछ नहीं भाता। घोड़ोंके थक जानेपर भी उन्होंने रातोंरात वन पार किये—ऐसा वाल्मीकिजी लिखते हैं।

वि० त्रि०—*'हृदउ सोचु''''उड़ाई'* इति। काश्मीर प्रान्तसे अवध चले हैं, बड़े-बड़े सुन्दर दृश्य सामने आ रहे हैं, सुन्दर नदियाँ, मनोहर शैल और बाँके वन। पर भरतजीके हृदयमें बड़ा सोच है कि कुछ बड़ा भारी अनर्थ अवधमें निश्चय ही हुआ है, अतएव वे मनोरम दृश्य भी अच्छे नहीं लग रहे हैं, बस अवध पहुँचनेकी त्वरा है, यदि पंख होता तो उड़कर शीघ्र पहुँच जाते। अतः अवध कब पहुँचेंगे यही धुन है।

**असगुन होंहि नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा*॥४॥**
**खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥५॥**
**श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥६॥**
**खग मृग हय गय जाहिं न जोएँ। राम बियोग कुरोग बिगोएँ॥७॥**
**नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी॥८॥**

शब्दार्थ—'**पैठारा**'=प्रवेशमें, घुसते, दाखिल होते। '**करारा**' (सं० करट)=काला कौआ। '**श्रीहत**'=शोभा-रहित।' '**बिगोएँ**=नष्ट किये गये, बिगाड़े हुए, ग्रसे हुए। '**कुखेत**'=मैली जगह।

अर्थ—नगरमें प्रवेश करते हुए अपशकुन हो रहे हैं। काले कौवे बुरे स्थानों (कुठौर) में बुरी तरह (काँव-काँवकी) रट लगा रहे हैं॥४॥ गधे, गीदड़ प्रतिकूल (अर्थात् अपशकुनसूचक बोली) बोल रहे हैं। जिसे सुन-सुनकर भरतके मनमें (त्रिशूल या बर्छेके लगनेकी-सी) पीड़ा होती है॥५॥ तालाब, नदी, वन, बाग शोभाविहीन हो गये हैं। नगर बहुत ही भयावन लग रहा है॥६॥ पक्षी-पशु, घोड़े-हाथी देखे नहीं जाते, रामवियोगरूपी कुरोगने उनको नष्ट कर डाला है॥७॥ नगरके स्त्री-पुरुष अत्यन्त दुःखी हैं, मानो सब अपनी सारी सम्पत्ति हार बैठे हैं॥८॥

नोट—१ *'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा'* इति। (क) बालकाण्डमें बरातके पयानके समय *'दाहिन काग सुखेत सुहावा'* यह शुभ शकुन कहा है, यहाँ 'कुखेत' से उसका विपर्यय स्थान जनाया। अर्थात् बायीं ओर, विष्ठानियुक्त अशुभ स्थानमें कौवा बैठा रट लगाये है। यह अपशकुन है। यथा अग्निपुराणे—'**विशन्ति येन मार्गेण वायसा बहवः पुरम्। तेन मार्गेण रुद्धस्य पुरस्य ग्रहणं भवेत्॥ सेनायां यदि वासार्थे निविष्टो वायसो रुदन्। वामी भयातुरस्त्रस्तो भयं वदति दुस्तरम्॥**' (वै०) (ख) कौवेकी बोली है 'करुरकरर' यथा—*'काका करत काग'* (दोहावली ४३६) वही रट बुरी तरह लगाये है। (ग) *'असगुन'* यहाँ सब उसके प्रतिकूल समझ लेना चाहिये जो बरातके समय शकुन हुए थे। ३०३(१—८) देखिये।

नोट-२—*'खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला'* इति। (क) दीनजी लिखते हैं कि राजकुमारके नगरमें आनेके समय सलामी या मङ्गलवाद्य बजने चाहिये, वे नहीं बजते, वरन् गदहे और सियार करुण-स्वरसे रोते हैं। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि खर ग्रामवासी है सो वनमें बोलता है। और सियार वनवासी है सो ग्राममें बोलता है। यह प्रतिकूल बोलनेका भाव है। यथा—अग्निपुराणे—'**ग्रामेऽरण्यवने ग्राम्या स्तथा निन्दितपादपः॥**' (ग) पंजाबीजी कहते हैं कि वाम भागमें इनका बोलना अपशकुनसूचक है। (रा० प्र०)

नोट-३—*'श्रीहत सर सरिता बन बागा।'''''* इति। (क) राजाकी मृत्युके पूर्व ही पुष्प, अंकुर और कलीके साथ वृक्ष मुर्झा गये थे, नदियों तथा छोटे-बड़े तालाबोंका जल मलिन हो गया, सूख गया, वन और बागके पत्ते सूखकर गिर पड़े, वनके प्राणी चलते नहीं जहाँके तहाँ पड़े हैं, तालाबोंके कमल सूख गये। (वाल्मी० २। ५९। ४—९ यह सुमन्त्रने राजासे कहा है) बागोंके वृक्षोंके पत्ते गिर गये हैं। जो बाग पहले बहुत ही प्रसन्न और संतुष्ट मालूम होते थे और प्रेमियोंके मिलनेके लिये नितान्त गुणवान् थे,

* 'कराला'—(ला० सीताराम)

बहुत सुन्दर लगते थे, आज वे रोते हुए-से मालूम होते हैं। पक्षी चुप हैं (२। ७१। २५—२७)। यही सर, सरित, वन, बागका श्रीहत होना है। सर जैसे क्षीरसागर, चक्रतीर्थ, विद्याकुण्ड, सीताकुण्ड, सूर्यकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड आदि। सरिता—तमसा, सरयू, तिलोदिका आदि। वन—प्रमोदवन, बाग अशोकादि, शीतल अमराई आदि। पूर्व जो कहा है *'बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥'* (८३।८) वही भाव यहाँ है। (ख) *'नगरु बिसेषि भयावनु लागा'* पूर्व जो कहा है कि *'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु काल राति अँधियारी॥'* (८३। ५-७) वही भाव यहाँ है। *'श्रीहत सर सरिता''''''* कहकर *'नगरु बिसेषि''''* कहनेका भाव यह है कि जब नदी-तालाब आदि स्थावर भ्रष्ट-श्री देख पड़ते हैं तब नगरमें तो चैतन्य बसते हैं वे क्यों न विशेष भयावन लगें? नगरकी दशाका वर्णन वाल्मीकीय सर्ग ७१ में इस प्रकार है—नगरमें वेदपारग ब्राह्मण रहते हैं। धनी रहते हैं। नगरमें महान् तुमुल शब्द सुनायी देता था। स्त्री-पुरुषोंके शब्दसे नगर गूँजा करता था। वहाँ कोई शब्द नहीं सुन पड़ते। जिन उद्यानों व बागोंमें चारों ओरसे लोग दिखायी पड़ते थे, वहाँ कोई नहीं। नगर वन-सा दिखता है। कोई धनी नगरको या नगरसे सवारियोंपर आते-जाते नहीं देख पड़ते। बाग आनन्दहीन हैं, वृक्षोंके पत्ते झड़े पड़े हैं। मत्त मृगपक्षीका मधुर शब्द नहीं सुनायी पड़ता। चन्दन, अगर, धूप आदियुक्त सुगन्धित वायु नहीं बह रही है। मृदङ्ग, वीणा आदिका शब्द क्या रुक गया? राजाओंके विनाशकालके सब लक्षण देख पड़ते हैं। घरोंमें झाड़ू नहीं लगी, देव-मन्दिरोंमें पुष्प शोभित नहीं, वहाँ कोई मनुष्य नहीं, बाजार सूना, चौक, गलियाँ सब सूनी। पशु-पक्षी आदि दुःखी बैठे हैं। स्त्री-पुरुष दीन, मलिन, आँखोंमें आँसू भरे, चिन्तामें मग्न दिखते हैं मानो उत्कण्ठित हैं कि क्या हो रहा है? अयोध्याके चौक, घर और गलियाँ सूनी हैं। धूलसे किवाड़ोंकी सिकड़ी आदि मलिन हो गयी हैं। इन्द्रपुरीके समान शोभित होनेवाली पुरीकी दशा तथा जो नगरमें कभी न देखा था उन बुरी लगनेवाली बातोंको देखकर भरतजीने दुःखसे भरकर सिर नीचा कर लिया। (श्लोक २० से ४६ तक।)

नोट-४—*'नगर नारि नर निपट दुखारी'* इति। भाव कि पशु, पक्षी और स्थावरकी जब यह दशा राम-वियोगसे हो गयी है तो स्त्री-पुरुषोंकी दशा कैसे कही जा सकती है, वे तो अत्यन्त दुःखी हैं। यह भाव 'निपट' पदसे जनाया। उत्प्रेक्षाद्वारा उनकी दशा कहते हैं। जैसे कोई जुएमें अपना घर-बार, धन-सम्पत्ति सर्वस्व हार बैठे, तब उसकी जैसी दशा हो जाती है वैसी दशा इनकी है। देखिये पाण्डवोंकी हारमें क्या दशा हुई थी। पु० रा० कु० जी कहते हैं कि 'राजाकी हारसे सबकी हार है। राजा अपनी भूलसे हारे, तो ये क्या करें, इनका बस ही क्या था?' (यहाँ श्रीसीतारामलक्ष्मण सम्पत्ति हैं। राजाका वचन देना हारना है। १४ (७) *'मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई'* देखिये। यहाँ उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।)

पं० रामचन्द्रशुक्ल—भरतको यदि रामवनगवनका संवाद मिल गया होता; तो हम इसे भरतके हृदयकी छाया कहते। पर घरमें जानेके पहले उन्हें कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं था? इससे हम सर-सरिताके श्रीहत होनेका अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग रामवियोगमें विकल पड़े हैं। सरसरितामें जाकर स्नान करनेका उत्साह उन्हें कहाँ? पर, यह अर्थ हमारे-आपके लिये है। गोस्वामी ऐसे भावुक महात्माके निकट तो रामके वियोगमें अयोध्याकी भूमि ही विषादमग्न हो रही है; आठ-आठ आँसू रो रही है। (वाल्मीकिजीने भी ऐसी ही दशा लिखी है। रामवियोगमें आश्चर्य ही क्या?)

## दो०—पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गँवहिं जोहारहिं जाहिं।
## भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥ १५८॥

शब्दार्थ—'गँवहिं'=गँवसे, ढंगसे, युक्तिसे, चुपकेसे यथा—*'देखि सरासन गवँहि सिधारे।'* (१। २५०। २) *'पाए पालिबे जोग मंजु मृग मारेहुँ मंजुल छाला। प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेम बस गवँहि चाप सर लीन्हें॥'* (गी० ३। ३)

अर्थ—पुरवासी मिलते हैं पर कुछ कहते नहीं, चुपकेसे प्रणाम करके चलते होते हैं। भरतजी उनसे एवं वे भरतजीसे कुशल नहीं पूछ सकते क्योंकि मनमें भय और दुःख भरा है॥ १५८॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'* अर्थात् हाथ कहीं है तो मुँह कहीं, प्रणाम करते हैं पर उनके सामने देखते नहीं। दृष्टि अन्यत्र किये हैं।

टिप्पणी २—*'भरत कुसल पूँछि न सकहिं.....'* इति। (क) यह दोनों ओर लगता है। भरतके मनमें इष्टहानिके भयसे शोक संचारीभाव है; अतः वे पूछते सकुचते हैं। पुरवासी शोकसे पीड़ित तो हैं ही पर भय यह है कि न जाने भरतको राज्यप्राप्तिका हर्ष हो और हम उनसे विषादकी बातें करें तो उनको बुरा लगेगा। वे समझेंगे कि हम उनके प्रतिकूल हैं, हमें उनका राजा होना नहीं सोहाता। और, यदि भरतजीको राम-वनवासका विषाद हो और हम उनको धन्यवाद दें तो भी प्रतिकूल ही पड़ेगा। इससे चुप साधे हैं। [अथवा, (ख) 'प्रजा द्वेष मानती है, उनसे असन्तुष्ट है; क्योंकि यह समझती है कि राज्य लेने आये हैं। इसीसे कोई कुछ पूछता-कहता नहीं। यह कुभाँति देख भरतजीके मनमें भय और खेद हो रहा है कि इन लोगोंको क्या दुःख है? मुझसे क्या विरोध है?' (पं०)] अथवा, (ग) भरतजीको देखते ही पुरवासियोंको 'कैकेइ-कुटिल-करनी' की स्मृति जाग्रत् हो गयी जिससे शोकविह्वल हो जानेसे कुछ भी बोलना उनके लिये असम्भव हो गया। और कहते भी तो सब अमङ्गल वार्ता ही कहनी पड़ती, अतः कहनेमें सङ्कोच भी है। (प० प० प्र०) शिष्टाचार भी यही है कि शोक-समाचार सहसा न कहना चाहिये।

**हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी॥ १॥**
**आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि॥ २॥**
**सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारेंहि भेंटि भवन लेइ आई॥ ३॥**

शब्दार्थ—**दहँ**=दस। **जलरुह**=जलसे उत्पन्न कमल। **चंदिनि**=चाँदनी, चन्द्रमाका प्रकाश।

अर्थ—बाजार और रास्ते देखे नहीं जाते, मानो नगरमें दसों दिशाओंमें वनाग्नि लगी है॥ १॥ बेटेको आता सुनकर राजा केकयकी पुत्री, सूर्यकुलरूपी कमलको चाँदनीरूप, कैकेयी प्रसन्न हुई॥ २॥ और आरती सजाकर आनन्दित हो उठ दौड़ी, दरवाजेपर ही (भरतजीको) भेंट कर उनको महलमें ले आयी॥ ३॥

नोट—१ *'जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी'*॥ यह दशा श्रीरामजीके-वनगमन-समय ही हो गयी थी। यथा—*'नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी। बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥'* (८५। २—४) यह दशा आज बीस दिनपर भी ज्यों-की-त्यों है। मार्गों, बाजारोंमें सन्नाटा छाया हुआ है, आजतक रामवियोग-विरहसे लोग वैसे ही व्याकुल हैं, घरसे निकलते नहीं। शोक किञ्चित् भी कम नहीं हुआ है। यह वही उपमा यहाँ देकर जनाया।

नोट २—(क) *'आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि।.....'* इति। नगरभर दुःखी है, एक कैकेयीको ही हर्ष है। यह बात अयोग्य समझकर महाराज दशरथका सम्बन्धी नाम न देकर पिता-सम्बन्धी नाम दिया। (रा० प्र०) पुनः नैहरका सम्बन्ध दिया; क्योंकि उसको इस समय हर्ष हुआ कि हमारा पुत्र (दशरथ, कौसल्या आदिका नहीं) आया है जिसके लिये हमने सब कुछ किया है। (पु० रा० कु०) पुनः, कैकयनन्दिनि=केकयको आनन्द देनेवाली। केकयराज भरत-राज्य सुनकर प्रसन्न होंगे क्योंकि उन्होंने तो व्याह ही इस शर्तपर किया था। अतएव **'कैकयनंदिनि'** पद दिया। पुनः, **'कैकयनंदिनि'** कहकर मन्दमति और कुटिल जनाया। विशेष ***'कैकयनंदिनि मंद मति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।'*** (९१) में देखिये।

(ख) *'रबिकुल जलरुह चंदिनि'* इति। यहाँ परम्परितरूपक है। सूर्यकुलपर कमलका आरोप किया, उसके सम्बन्धसे कैकेयीको चाँदनी कहा; क्योंकि चाँदनीसे कमल संकुचित हो जाता है, सिकुड़ जाता है।

नोट-३—(क) *'सजि आरती मुदित उठि धाई।.....'* यह उसका हर्ष दिखाया। स्वयं उठकर दौड़ी गयी कि कोई दशरथ-मरण आदि कह न दे। देखिये, कहाँ तो घरमें मृतक पड़ा है, सब दुःखमें

डूबे पड़े हैं और कहाँ ऐसे अनर्थमें वह आरती करती है! पुनः, जब-जब राजकुमार बाहरसे आया करते थे, उनकी आरती उतारी जाती थी। इस समय शोक है, कोई क्यों आरती उतारेगा; अतः कैकेयी अपने पुत्रकी आरती करने चली। (ख)—*'उठि धाई'*—इससे कैकेयीका पुत्रमें प्रेम दिखाया। प्रेमके मारे उठ दौड़ी। यथा—'**आगतं भरतं दृष्ट्वा कैकयी प्रेमसम्भ्रमात्।**......' (अ० रा० २। ७। ५९) उस समय वह स्वर्ण-आसनपर बैठी हुई थी, सुनते ही बहुत प्रसन्न होकर वह आसनपरसे कूद पड़ी। यथा—'**उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम्।**' (वाल्मी० २। ७२। २) यह भाव भी *'मुदित उठि धाई'* से जना दिया।

**भरत दुखित परिवारु निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बनु मारा॥ ४॥**
**कैकेई हरषित एहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥ ५॥**
**सुतहि ससोच देखि मनु मारें। पूछति नैहर कुसल हमारें॥ ६॥**
**सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥ ७॥**
**कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लषन प्रिय भ्राता॥ ८॥**

शब्दार्थ—**बनज**=वन (जल)+ज=जलज, कमल। **दव लाइ**=दावाग्नि लगाकर। **मनु मारे**=उदास, म्लान, खिन्न-हृदय, चित्तसे दुःखी। **नैहर** (प्रा० णाति, णाइ=पिता+हर=घर) स्त्रीके पिताका घर, मायका, पीहर।

अर्थ—श्रीभरतजीने परिवारको दुःखी देखा (वे ऐसे दीखते हैं) मानो कमलवनको पाला मार गया हो॥ ४॥ कैकेयी इस प्रकार प्रसन्न (दीखती) है, मानो भिल्लिनी (वनमें) आग लगाकर प्रसन्न हो रही हो॥ ५॥ पुत्रको शोचयुक्त और उदास देखकर पूछती है कि हमारे नैहरमें कुशल तो है?॥ ६॥ भरतजीने सबकी और सब तरहकी कुशल कह सुनायी और तब अपने कुलकी कुशल-भलाई (कुशल-क्षेम) पूछी॥ ७॥ कहिये, पिताजी कहाँ हैं? सब माताएँ कहाँ हैं? श्रीसीताजी और श्रीराम लक्ष्मण प्यारे भाई कहाँ हैं?॥ ८॥

नोट—१ *'तुहिन बनज बनु मारा'* इति। पाला पड़नेसे जैसे कमल झुलस जाता है वैसे ही ये सब मुरझाये हैं, इनके मन मरे हुए हैं। बहुत लोग हैं, इससे बन कहा। सरस्वतीहीने प्रथम यह बात कही कि *'भयउँ सरोज बिपिन हिम राती।'* (१२। १) अर्थात् मुझसे जो देवता लोग करनेको कहते हैं उससे अवधकी यह दशा हो जायगी। वह यहाँ चरितार्थ हुआ। कविने कैकेयीको ऊपर *'रबिकुल जलरुह चंदिनि'* कहा ही है, पर श्रीभरतजीने जो दशा देखी उससे कैकेयीको शरद्की हिमरात्रिवाली चाँदनी जानना चाहिये।

नोट—२ *'मुदित दव लाइ किराती'*—पूरा रूपक *'बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही। जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥'* (८४। २-३) में देखिये। अवध वन-परिवार, और पुरजन जीव-जन्तु और कैकेयी किरातिनी है। पुरवासियोंने भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस बेनु बन आगी॥'* (४७। ४) इसके अनुसार रघुकुल बाँसोंका वन है, कैकेयी वनाग्नि है। कैकेयीके हर्षका प्रसङ्ग चल रहा है—'कैकयनंदिनी' *'मुदित उठि धाई'* यह प्रथम कहा अब इसके हर्षका प्रकार उत्प्रेक्षाद्वारा कहते हैं। इससे जनाया कि भरतको सन्देह हो गया कि माताके किसी कर्तव्यसे परिवारकी यह दशा हो रही है।

नोट—३ *'सुतहि ससोच देखि......'* इति। ऐसा जान पड़ता है कि इनको उदास देखकर उसे यह खयाल हुआ कि यहाँ तो मैंने सब सुख साज ही रखा है,कहीं नैहरमें कुछ गड़बड़ तो नहीं है? और भरतको तो शोचका यहाँ एक कारण और यह भी हुआ कि सब तो दुःखी हैं और यह सुखी। *'हमारें'* बहुवचन पद अपने लिये प्रयुक्त कर रही है। इस प्रकार कवि जनाते हैं कि इस समय उसका गर्व कितना बढ़ गया है। शोच इससे है कि सारा नगर और परिवार दुःखी देख पड़ता है; यह प्रसन्न कैसे है?

नोट—४ *'सकल कुसल कहि'*—नानाके यहाँसे चले हुए आज मुझे सातवीं रात है। मेरे नाना सकुशल हैं, मेरे मामा युधाजित् सकुशल हैं। मुझे उन्होंने बहुत धन दिया जो पीछे आ रहा है।

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'कुसल भलाई'* इति। भलाई अर्थात् कुलकी भलमनसाहत तो बनी है,

कोई लाञ्छन तो नहीं लगा है ? (कुशल-भलाई=कुशल-क्षेम। भाव यह कि दूतोंके कहनेसे मैं वहाँसे तुरत चलकर आया हूँ। अतः जो मैं पूछता हूँ, उसका उत्तर मुझे दो कि यहाँ तो सब कोई सकुशल हैं? भाव यह कि मैं सबके कुशलके लिये ही चिन्तित हूँ।)

टिप्पणी-२ *'कहु कहँ तात कहाँ सब माता।'.....'* इति। पहले पिताको तब माता इत्यादिको पूछा। यह क्रम साभिप्राय है। कैकेयी राजाको बहुत प्रिय थी। वे प्रायः इसीके महलमें रहते थे। आज उस भवनको उनसे खाली देख रहे हैं। यथा—**'राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने। तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः॥'** (वाल्मी० २। ७२। १२) इस उद्धरणसे यह भी सिद्ध होता है कि कैकेयीके महलमें वस्तुतः वे अपने पिताका दर्शन करनेके ही विचारसे आये थे, पिताको नहीं देखा। अतः प्रथम उन्हींको पूछा। भरतजीको कौसल्याजी बहुत प्यार करती थीं; इससे जब वे घरमें आते तब माताएँ भी वहाँ आ जाती थीं। आज वे कोई नहीं आयीं। अतएव उनको पूछा। फिर श्रीसीता-रामजीको पूछा; क्योंकि कैकेयीको ये प्राणप्रिय थे, वे प्रायः कैकेयीके पास रहते थे और लक्ष्मणजी तो उनके साथ जन्मसे ही रहे; अतएव माताओंको पूछकर इनको पूछा। पुनः, उनको आश्चर्य है कि बाहरसे हमारे आनेपर तो ये सब एकत्र मिलकर हमारे पास आते थे, आज क्यों नहीं आये? अथवा, पिता-सम्बन्धी दुःस्वप्न देखे थे, इससे पिताकी सबसे अधिक चिन्ता है। अतः उनको प्रथम पूछा।

नोट—५ कैकेयीके साथ यहाँ भरतजीको 'सुत' कहते आये—*'आवत सुत सुनि', 'सुतहिं ससोच देखि', 'सुनि सुत बचन'* इत्यादि। पर भरतजीके उत्तर और प्रश्न आदिमें 'भरत' पद दिया है, कैकेयीका सम्बन्ध नहीं दिया है। कारण कि भरतजी उसके मतमें नहीं हैं, वे उसके दोषमें शामिल नहीं हैं, वे तो निर्दोष हैं। परंतु जब कैकेयी अगवानीको गयी, आरती उतारने लगी और प्रश्न किये तब उसने तो अपना सुत जानकर यह सब किया, उसे यह अभिमान था कि ये मेरे पुत्र हैं, इनकी प्रकृति भी ऐसी ही होगी। मैंने जो किया है उसे सुनकर ये प्रसन्न होंगे।

**दो०—सुनि सुत बचन सनेहमय कपट नीर भरि नयन।**
**भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बयन॥ १५९॥**
**तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥ १॥**
**कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥ २॥**

शब्दार्थ—**सूल** (शूल)—एक अस्त्र जो बरछेके आकारका होता था। त्रिशूल, सूली जिससे प्राचीन कालमें प्राण-दंड दिया जाता था। सँवारी=बना ली, ठीक कर ली।

अर्थ—पुत्रके प्रेममय वचन सुनकर नेत्रोंमें कपट-जल-भरकर पापिनी कैकेयी भरतजीके कानों और मनको शूलके समान (पीड़ित करने और करकनेवाले) वचन बोली॥ १५९॥ हे तात! मैंने सभी बात बना ली, बिचारी मन्थरा सहायक हुई॥ १॥ पर विधाताने बीचमें कुछ थोड़ा काम बिगाड़ दिया कि राजा स्वर्ग पधार दिये॥ २॥

गौड़जी—*'तात बात'''सँवारी।'* इति। 'तुम्हारी तो बात सभी ठीक करके तुम्हारी भलाई (कुशल) का मैंने सारा बंदोबस्त कर लिया है।' कपटके आँसू दिखाते हुए भी कैकेयीके मनमें जो भाव सबसे ऊपर थे; उसीको पहले प्रकट किये बिना न रह सकी। [*'बात मैं सकल सँवारी',* ऐसा ही अ० रा० में भरतजीके व्याकुल होनेपर कहा है, यथा—'**भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया**।'(२।७।६८) ]

नोट—१ कवि बराबर पग-पगपर भरतजीको निर्दोष-निष्पाप दिखाते जा रहे हैं। *'सनेहमय'* सौतें और *'श्रवन मन सूल'* यही बात जनाते हैं।

नोट-२ कैकेयी तो पति, सौतें और सीता-राम-लक्ष्मण सभीको अपना शत्रु मानती है, यथा—*'राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने॥'* (३३। ७) उसको पतिमरण, प्रजादुःख, रामवनवास

तो सुख दे रहे हैं, आज उसका कलेजा ठंडा है। यथा—*'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आज जुड़ावहु छाती॥ देहु लेहु सब सवति हुलासू।'* (२२। ५-६) भरतजीको यह कुछ मालूम नहीं है। उनके प्रेममें किंचित् कमी नहीं है। वह सोचती है कि हँसकर कहूँगी तो भरतको खयाल होगा कि यह कैसी है कि पति-मरणका शोक भी इसे नहीं, कुछ इसने दुष्टता अवश्य की है। अतएव उसके आँसू कहाँ! वह कपटसे आँखोंमें आँसू भर लायी, जिससे उसको वे निर्दोष समझें। पितामरण आदि भरतके लिये अप्रिय बातें हैं, पर वह इन्हें प्रिय बातके समान बोली।

टिप्पणी—१ *'तात बात मैं सकल सँवारी·····'* इति। (क) भरतजीने तो पिता आदिका कुशल-समाचार पूछा। पर वह उत्तर देती है कि मैंने सब बात सुधार ली·····। भाव यह कि कुशल तो न थी, पर मैंने सब बिगड़ी बना ली; नहीं तो जैसी कुशल तुम्हारे पिता आदिके द्वारा होती वह तुम्हें मालूम पड़ती, यथा—*'भामिनि भइउ दूध कइ माखी।'* (१९। ७) अर्थात् मैं घरसे निकाल दी गयी होती और तुम कारागारमें पड़े सड़ते। हम तुम दोनों दासोंकी तरह सेवा करते तब यहाँ रह सकते। काज जो सब मैंने ही सँभाल लिया पर इसमें बेचारी मन्थराने सहायता की थी, वह न बताती तो मुझे मालूम भी न होता, तुम भी यहाँ न थे। *'बिचारी'* पद श्लेष है। अर्थात् गरीब है, दासी है, इसकी हकीकत ही क्या, इसे कौन पूछे, तो भी यह सहायक हुई। विचारमान् हैं, पंडिता है, यथा—*'बार बार बड़ि बुद्धि बखानी।'* (२३। १) यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है। अथवा, अभिमानी लोग दूसरेको *'बिचारा, बिचारी'* कहते हैं, वैसे ही इसने कहा। [(ख) मन्थराकी प्रशंसा यहाँ क्यों की? इसलिये कि वह वचन दे चुकी थी कि *'तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कर भइसि अधारा॥ जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चषपूतरि आली॥'* (२३। २-३)। उसकी यह प्रतिज्ञा भरतद्वारा ही पूरी हो सकेगी। अतः यहाँ लक्षित कर दिया कि यही हम दोनोंकी परम हितैषिणी है और सब शत्रु हैं। (प०)]

टिप्पणी-२ *'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'* इति। यह अभिमानी जीवका सहज स्वभाव है। भलाईका तो स्वयं कर्त्ता बनता है और बुराई विधाताके सिर लादता है। वैसे ही कैकेयी सँवारना गुण अपना बताती है और बिगाड़ना दैवाधीन करती है। अपनेको निर्दोष ठहराती है। (ख) पितामरण तो बड़ी बात है पर वह उसको थोड़ी बात बताती है। राज्यके लोभी ऐसे ही होते हैं। अपने कार्यसाधनमें कैसा ही बड़ा अनर्थ हो वह दुष्टको 'कुछ' ही जान पड़ता है। (*'कछुक काज'* से (वाल्मी० २। ७२) के **'तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद्घोरमप्रियम्। अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता॥'** (१४) का भाव जना दिया कि राज्यलोभसे मोहित कैकेयी कुछ भी न जाननेवाले भरतसे घोर अप्रिय बातको प्रिय बातके समान बोली। पंजाबीजी लिखते हैं कि वह रामविरोधिनी है। उसका हृदय वज्र-सा हो गया है। अतः वह इसे *'कछुक'* कहती है। वा, भरतके आश्वासनार्थ ऐसा कहती है, जिसमें वे अधीर न हो जायँ। वा, देह क्षणभङ्गुर है, एक दिन अवश्य सबको मरना है, और राजा धर्मज्ञ थे उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ इससे उनके लिये सोच भी करनेकी जरूरत नहीं, तीसरे वे वृद्ध होकर मरे इत्यादि कारणोंसे *'कछुक'* कहा। वा, राजा उसके शत्रुके स्नेहमें मरे; अतः *कछुक* कहा।' राज्यप्राप्ति सूचित करते हुए उसने ऐसी युक्ति बनायी थी पर इसका प्रभाव उलटा ही पड़ा)।

**सुनत भरतु भए बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा॥ ३॥**
**तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी॥ ४॥**
**चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥ ५॥**
**बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महतारी॥ ६॥**
**सुनि सुत बचन कहति कैकेई। मरमु पाँछि जनु माहुर देई॥ ७॥**
**आदिहुँ ते सबु आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥ ८॥**

शब्दार्थ—**मरम**=मर्मस्थल। **'मरम ठाहरु देखई।'** (२५ छंद) देखिये। **पाँछि**=पाछकर, चीरकर, पंछा लगाकर। पाछना—जन्तु या पौधेके शरीरपर छुरीकी धार इस प्रकार मारना कि वह दूरतक न धँसे और जिससे केवल ऊपर-ऊपरका रक्त आदि निकल जाय। छुरा या नहरनी आदिसे रक्त, पंछा या रस निकालनेके लिये हलका चीरा लगाना, चीरना। माहुर=विष।

अर्थ—यह सुनते ही श्रीभरतजी दुःखके कारण व्याकुल हो गये। मानो सिंहकी गरज सुनकर हाथी सहम (डर) गया हो॥ ३॥ तात! तात!! हा तात!!! (इस तरह) पुकारते हुए बड़े व्याकुल होकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ४॥ हा तात! मैं आपको (स्वर्ग) जाते समय न देख पाया। हा तात! आपने मुझे श्रीरामजीको न सौंपा॥ ५॥ फिर धैर्य धारण करके सँभालकर उठे (और बोले) हे महतारी! पिताके मरनेका कारण कहो॥ ६॥ पुत्रके वचन सुनकर कैकेयी कहने लगी, मानो मर्मस्थलको चीरकर उसमें विष डाल रही हो॥ ७॥ कुटिला कठोर कैकेयीने शुरूसे अपनी सब कुटिल और कठोर करनी प्रसन्न मनसे वर्णन की॥ ८॥

नोट—१ *'तात तात·····ब्याकुल भारी'* इति।—कई बार तात-तात व्याकुलता जनाता है। *'भारी'* का भाव यह कि व्याकुल तो प्रथम ही थे, दुःस्वप्न, अपशकुन और प्रजा-परिवारको दुःखी देखकर; पर पितुमरण इस प्रकट दुःखसे बहुत व्याकुल हो गये, सँभाल न सके। *'बिबस बिषादा'* *'ब्याकुल भारी'* कैसा भारी विषाद हुआ, कैसे व्याकुल हुए यह वाल्मी० २—७२ (श्लोक १६ से २८ तक) में वर्णित है।

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'चलत न देखन पायउँ तोही।'·····'* इति। (क) भाव यह कि न मुझसे ही बना न आपसे ही। मैं आपको अन्त समय न देख सका और न आपने ही मुझे रामको सौंपा।—[वाल्मी० २-७२ में सौंपनेका कारण स्पष्ट भरतजीके इन वचनोंसे पाया जाता है—**'यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः। तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥' पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः। तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥'** (३२-३३) अर्थात् जो मेरे भ्राता बन्धु हैं, जिनका मैं प्रिय दास हूँ, जो सरलस्वभाव हैं, उन रामजीको शीघ्र बताओ कि कहाँ हैं, मैं उनके चरण पकड़ूँ, वही अब मेरे अवलम्ब हैं, क्योंकि धर्म जाननेवालोंमें बड़ा भाई ही पिताके तुल्य माना गया है। ☞ अ० रा० में मानससे मिलते हुए श्लोक ये हैं—**'तच्छ्रुत्वा निपपातोर्व्यां भरतः शोकविह्वलः। हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे।'** (२। ७। ६६) **'असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः।'** अर्थात् यह सुनते ही भरतजी शोकाकुल होकर पृथिवीपर गिर पड़े और विलाप करने लगे—हा तात! मुझे शोकसमुद्रमें डालकर आप कहाँ चले गये ? महाराज रामको मुझे सौंपे बिना ही आप कहाँ चले गये ?]

टिप्पणी-२ (क) *'बहुरि धीर धरि·····'* इति। (क) माताने पहले कहा है कि विधाताने बीचमें कुछ काज बिगाड़ दिया, मन्थराने मेरी सहायता की; इससे भरतजीको होश आया कि कोई इससे भी बढ़कर अनिष्ट तो नहीं हुआ। इस शंकाके निवारणार्थ मातासे पूछना 'वितर्क संचारीभाव' है। (वीर) (ख) भरतजीके मुखसे माताके लिये *'महतारी'* शब्द भी दैवयोगसे कैसा अच्छा निकला है, वह सत्य ही *'महत् अरि'* है, कुलभरका नाश उसने किया है। ४० (४),४२(६), ४२ भी देखिये।

नोट—२ *'मरमु पाँछि जनु माहुर देई'* इति। मर्म वह नाजुक स्थल है जहाँ चोट लगनेसे प्रायः मृत्यु ही होती है। पाँछिका अर्थ जो ऊपर दिया गया वह हिन्दीकोश-शब्द-सागरके अनुसार है। पिताका मरण-समाचार मर्मस्थलका चीरना है, अर्थात् उसने घाव मर्मस्थानमें कर दिया, अब अपनी कुटिल कठोर करनी—*'अवध बधावा'* (रामराज्याभिषेककी तैयारी) से लेकर शम्बरासुरके वरदान आदिकी कथाएँ, कोप-भवनमें पड़ना इत्यादि सब कही, जिससे जीना दुर्लभ हो गया। यही पूर्वकृत घावमें विषका फाया देना है। बैजनाथजीके अनुसार 'रामस्नेह' मर्म, अङ्ग राम, वनवास पाछ,भरतका राज्य विष और हरिविमुखता मरणहेतु है।' प्रोफे० दीनजी *'पाँछि'* का अर्थ देते हैं—'दबा-दबाकर, बिकार निकाल करके, साफ करके।' *'माहुर देई'*= जहर भरती है, विषभरी पट्टी उसपर धरती है। यहाँ सिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

वाल्मी० २—७३ में भरतजीने ऐसा ही कहा है—'**दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः॥**' (३) अर्थात् तूने मुझे दुःखमें दुःख दिया, मेरे घावमें नमक छिड़का।

नोट-३—'*कुटिल कठोर*' इति। अपनी कुकरनी बड़ी प्रसन्नतासे कह रही है, इसीसे उसको भी कुटिल-कठोर कहा। ऐसी कठोर निर्दया कि पतिमरणपर भी दया नहीं छू गयी और न पुत्रपर दया हुई कि इनको पिताका इतना शोक हुआ, वनवास सुनेंगे तब न जाने क्या होगा! कारण कि वह तो समझती है कि हमारा पुत्र खुश होगा। (पंजाबीजी)

**दो०—भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।**
**हेतु अपनपउ जानि जिअँ थकित रहे धरि मौनु॥१६०॥**

शब्दार्थ—'**गौनु**'=गमन, जाना। '**अपनपउ**'= अपना सम्बन्ध, अपनेको। '**थकित**'=स्तम्भित, शिथिल। '**धरि मौन**'=मौन धारण करके, चुप साधकर।

अर्थ—रामवनगमन सुनते ही भरतजीको पिताका मरण भूल गया। हृदयमें कारणमें अपना सम्बन्ध (अर्थात् अपनेको वनवासका कारण) समझकर चुप साधकर वे स्तम्भित हो गये। (अर्थात् वे ऐसे व्याकुल हो गये कि सन्न-से रह गये, कुछ बोल न निकला। यह अत्यन्त विह्वलता दिखायी। पितु-मरणपर सावधान थे, इसीसे विलाप करने लगे थे; पर वनवास सुन सावधानता न रह गयी, बेसुध हो गये कि यह क्या हुआ?)

नोट—अ० रा० में जो कहा है कि '**इति मातुर्वचः श्रुत्वा वज्राहत इव द्रुमः॥**' (७६) '**पपात भूमौ निःसंज्ञस्तं**'''।' अर्थात् वज्राहत वृक्षके समान अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, वह सब भाव '*थकित रहे*''' ' से जना दिया है।

**बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहु जरे पर लोन लगावति॥१॥**
**तात राउ नहिं सोचइ जोगू। बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥२॥**
**जीवत सकल जनम फल पाए। अंत अमरपति सदन सिधाए॥३॥**
**अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥४॥**

शब्दार्थ—**बिढ़इ** (सं० वृद्धि, हि० बढ़ाना)=कमाकर, संचय करके, इकट्ठा करके, उपार्जन करके। यह पूर्वी अवधी बोली है।

अर्थ—व्याकुल देखकर पुत्रको समझाती है, मानो जलेपर नमक लगाती है॥१॥ हे तात! राजा सोच करने योग्य नहीं हैं। उन्होंने पुण्य और यश कमाकर उसका भोग भी किया॥२॥ जीते-जी उन्होंने जन्म लेनेका सम्पूर्ण फल पा लिया और अन्तमें इन्द्रलोकको गये॥३॥ ऐसा विचारकर सोचको छोड़ो और समाज-(मन्त्री, सेना आदि) सहित नगरका राज्य करो॥४॥

टिप्पणी—१ '*मनहु जरे पर लोन लगावति*' इति।—लवण (नमक) रस है, जलेपर घावमें लगानेकी वस्तु नहीं है, भोजनकी वस्तु है। वैसे ही राज रस है, पर रामविरहीके लिये नहीं है, भोगीके लिये है—'*लोलुप भूमि भोग के भूखे।*' (अति कटु वचन कहकर जैसा दुःख इसने राजाको दिया था वैसा ही दुःख भरतजीको इसके वचनोंसे हुआ यह दिखानेके लिये वही उत्प्रेक्षा यहाँ की। यथा—'*अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई॥*' (३०-८) यथा—यहाँ '*सुतहि समुझावति। मनहुँ*'''।' इससे जनाया कि इसके वचन भरतजीको अति कटु लगे, विशेष भाव वहीं देखिये।

टिप्पणी २—'*तात राउ नहिं*''' ' इति। [(क) वसिष्ठजीने भी यही बात कही है। यथा—'*तात बिचारु करहु मन माहीं। सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥*' (१७२। २) से '*सोचनीय नहिं कोसलराऊ॥*' (१७३—५) तक। पर कहनेवाले वसिष्ठजीने जब यह कहा तब वे विलख उठे थे—'*बिलखि कहेउ मुनि नाथ।*' (१७१)

पर कैकेयीको यह कहते किञ्चित् दुःख भी न हुआ। *'लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥'* यह वचन यहाँ भी चरितार्थ हुआ। (प० प० प्र०)] (ख) *'बिढ़इ सुकृत जसु*.....' इति। भाव कि उन्होंने धर्म और यश इस लोक और परलोक दोनोंके लिये संचय कर लिया। इतना धर्म कमाया कि इस तनमें भोग लिया और फिर अमरपुरमें जाकर भोग रहे हैं और आगेके लिये अपना यश संसारमें छोड़ गये।

टिप्पणी ३—*'सहित समाज राज पुर करहू'* इति।—राज्यके सात अङ्ग हैं वही समाज है। भाव कि—(क) ये सब अङ्ग अभी मौजूद हैं, तुरंत राज्यपर बैठ जाओ, नहीं तो फिर कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय। (ख) तुम भी सुकृत और सुयश संचय कर लो और उपभोग करो। इसी राज्यसे सबने पुण्य और यश उपार्जन किया है, तुम भी इससे ऐसा ही कर लो। (*'सहित समाज राज पुर करहू'* में यह भी भाव है कि बेटा! तुम शोक क्यों करते हो। ऐसे महान् राज्यको पानेपर दुःखका कारण ही कहाँ रह जाता है। तुम्हारे ही लिये मैंने यह सब ठाट ठटा है; अब तुम यह निष्कण्टक राज्य ग्रहण करो।' यथा—'**कैकेयी पुनरप्याह वत्स शोकेन किं तव ।**' (अ० रा० २—७—७८) '**राज्ये महति सम्प्राप्ते दुःखस्यावसरः कुतः।**', '**त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम्।**' (वाल्मी० २। ७२। ५२)। '**मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक। त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम्॥**' (५३) शोक-संताप न करो, धैर्य धारण करो।) (ग) *'तात राउ नहिं सोचइ जोगू।'''सोच परिहरहू'* ये सब वचन जलेपर लोन लगानेवाले हैं। और *'सहित समाज राज पुर करहू'* यह पके हुए घावपर अङ्गार रखनेके तुल्य हैं, जैसा आगे कह रहे हैं—*'पाकें छत जनु लाग अँगारू।'* यहाँ जलना क्या है? अपनी करनी उनसे कही कि तुम राजा हो, राम राजा न हों, इसलिये मैंने सब यत्न किया इसपर जलन हुई कि बड़े भाईके रहते छोटा राजा हो! कुलको कलङ्क पहुँचे! यही जलना है।

**सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाकें छत जनु लाग अँगारू॥५॥**
**धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥६॥**
**जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥७॥**
**पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति* बारि उलीचा॥८॥**

शब्दार्थ—**छत** (क्षत)=घाव। अङ्गार=आगकी चिनगारी। **कुरुचि**=कुत्सित इच्छा, बुरी रुचि, बुरा विचार। **निति**=नित्य, प्रतिदिन=निमित्त, लिये। '**उलीचा**' (सं० उल्लंघन)=पानी फेंका। हाथ या बरतनसे पानी उछालकर दूसरी ओर डालना 'उलीचना' कहलाता है। पालउ=पल्लव=पत्ता।

अर्थ—राजकुमार श्रीभरतजी यह सुनकर अत्यन्त सहम गये। मानो पके घावमें अङ्गार लग गया (पके घावपर चिनगारी पड़ जानेसे पीड़ा असह्य हो जाती है, रोगी कलपने-तड़पने लगता है वैसे ही इनको दुःसह दुःख हो गया)॥५॥ धीरज धरकर वे गहरी लम्बी साँसें लेने लगे (और बोले)! अरी पापिनी! तूने सभी तरह कुलका नाश किया॥६॥ जो निश्चय ही तेरे (ऐसी) अत्यन्त बुरी रुचि थी, तो तूने मुझे जन्म लेते ही क्यों न मार डाला?॥७॥ तूने पेड़ काटकर पल्लवको सींचा, मछलीके जीवनके लिये तूने जल उलीच फेंका॥८॥

टिप्पणी—१ *'सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।'*.....' इति। [(क) वाल्मी० २। ७४ में श्रीभरतजीने जो कहा है कि 'राक्षसोंके आचरणके समान क्रूर कर्म जो तुमने किया कि सर्वलोकप्रिय श्रीरामको वन भेज दिया उससे मैं भयभीत हो उठा हूँ, मैं अपना कर्तव्य निश्चय करते डरता हूँ। तेरे कारण मेरे पिता मरे, भाई वनवासी हुए और लोकमें सर्वत्र मुझे तुमने अपयश दिया। तुम मातारूपमें मेरी शत्रु हो। तुम्हारे पापोंका फल मुझे भोगना पड़ रहा है, यह सब भाव *'सुठि सहमेउ'* में आ जाते हैं। अर्थात् ये सब बातें सोचकर वे अत्यन्त भयभीत हो गये। 'राजकुमार' का भाव कि यह बात नहीं है कि वे राज्यके योग्य न हों,

* आधुनिक प्रतियोंमें 'निति' का 'हिति' कर दिया गया है।

सब प्रकार राजा होनेके लायक हैं। (ख) पूर्व कहा था कि *'जनु सहमेउ करि केहरिनादा।'*(१६०। ३) अर्थात् सहम तो पहले ही गये थे, अब *'सुठि सहमेउ।'* (ग) *'पाकें छत जनु लाग अँगारू'*॥ यहाँ राजाकी मृत्यु क्षत है, रामवनगमन उसका परिपक्व होना है, 'राज्य करो' यह कथन अङ्गार लगना है। अङ्गार देखनेमें सुन्दर है पर घावपर लगनेसे अत्यन्त दुःख देता है। वैसे ही पितुमरण और रामवनगमनपर राज्यका देना है। राज्य सुन्दर पदार्थ है पर इसीने वेदना अत्यन्त बढ़ा दी है। (पं०)]

टिप्पणी—२ *'सबहिं भाँति'*॥ पिताका मरण, वैधव्य, कुलमर्यादाका नाश, कलंक, रामवनगमनसे प्रिय-परिजन सब प्रजा दुःखी, इत्यादि।

नोट—१ वाल्मी० २। ७३ में श्रीभरतजीके वचन ये हैं—पिताको मार डाला और भाईको वनवासी बनाया। मेरे कुलके विनाशके लिये तुम कालरात्रि बनकर आयी हो। बिना समझे ही अनजानेमें मेरे पिताने जलती आग पकड़ ली। बुरे अभिप्राय रखनेवाली तुमने राजाको मार डाला। कुलनाशिनि! तुमने मोहसे इस कुलका सुख नष्ट कर डाला—**'सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन्कुलपांसनि।'**(५) मेरे कारण मेरे पिता सत्यप्रतिज्ञ महायशस्वी राजा भयानक दुःख उठाकर मर गये।''''पुत्रशोकसे पीड़ित कौसल्या और सुमित्रा तेरे साथ रहकर कैसे जीवित रह सकेंगी।''''राजपुत्रोंमें जो बड़ा होता है वही राजा होता है। जिन्होंने सदा कुलधर्मकी रक्षा की हैं और कुलोचित आचारके पालनसे प्रसिद्ध हुए हैं, उनका वह उन्नत चरित्रवाला कुल आज तुम्हारे कारण नष्ट हुआ। यह सब *'सबहि भाँति'* है। पाँड़ेजीका मत है कि यह मानसिक कथन है, पापिनि=इस पापिनीने।

नोट-२ (क) *'कुरुचि'* इति। मेरा पुत्र राजा होवे, मैं राजमाता कहलाऊँ, सौतें मेरी सेवा करें इत्यादि राज्यलोभ, निर्मल सूर्यवंशमें कलङ्क लगानेवाली, *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'* इस कुलोचित आचारके विरुद्ध बुद्धि श्रीरामजीको देशनिकाला देने और मुझे कुलकलंकी बनानेका मनोरथ ही *'कुरुचि'* है। यथा—*'हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो। कुलकलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो॥'* (गी० २। ६०) (ख) *'जनमत काहे न मारे मोही'* इति। भाव कि उसी समय मार डाला होता तो तेरा नाता टूट जाता, तेरे नातेसे मुझको और कुलको कलङ्क न लगने पाता। अथवा, तेरी कुरुचिके कारण मैं मारा गया, मारे गयेके समान तूने मुझे दुःखी कर डाला है—**'हतस्त्वेह मम', 'दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः।'** (वाल्मी० २। ७३। ३)।' दुःख देकर मारा, इससे अच्छा था कि प्रथम ही मार डालती।

टिप्पणी—३ *'जौं पै कुरुचि रही अति तोही''''* ' इति।—क्या कुरुचि थी,सो आगे कहते हैं—पेड़ काटने और पल्लव सींचनेकी, मछली जिलानेके लिये नित्य पानी उलच फेंकनेकी। यहाँ पेड़ राजा और पल्लव भरत, (श्रीरामजीको पेड़ और भरतजीको पल्लव कह सकते हैं। पल्लवका जीवन पेड़के अधीन है। ऐसा लेनेसे भाव यह होगा कि मैं श्रीरामजीका भक्त हूँ, उनके आश्रित हूँ, स्वामीको वन भेजकर मुझे सुख देनेकी इच्छा मूर्खता है।) जल रामजी, मीन भरतजी और अयोध्या तालाब है। पुनः, सब प्रिय परिजन प्रजा भी मीन हैं, सबके जीवन रामरूपी जल हैं। भाव यह कि पेड़से सबको सुख होता है सो तूने उसे काट डाला, सबका सुख छीन लिया, एक पल्लवको सींचा अर्थात् मुझे सुख देना चाहा तो मैं सुखी कैसे रह सकता हूँ? पानी न रहनेसे मछली मर जाती है वैसे ही बिना रामके मैं भला जी सकता हूँ? 'ललित अलङ्कार' है।

**दो०—हंस बंसु दसरथु जनकु राम लषन से भाइ।**
**जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥१६१॥**

**जब तैं कुमति कुमत जिअँ ठयेऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयेऊ॥१॥**
**बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥२॥**

**भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥ ३॥**
**बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ ४॥**
**सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानइ तीय सुभाऊ॥ ५॥**

शब्दार्थ—हंस=सूर्य। **जनक**=पिता। **ठयेऊ**=ठना, स्थित हुआ। दृढ़ सङ्कल्पसे आरम्भ होना, (मनमें) जमना ठहरना ठनना निश्चित होना 'ठयना' कहा जाता है। पुनः, ठयना=करना, यथा—'*सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ।*'

अर्थ—(भरतजी कहते हैं कि देख मैं कैसा भाग्यवान् था कि) सूर्यवंश-ऐसा वंश (मुझे मिला अर्थात् उत्तम कुलमें मेरा जन्म हुआ), दशरथ महाराज-ऐसे पिता और श्रीराम-लक्ष्मण-सरीखे भाई मिले; पर हे जननी! तू मुझे जनने-(पैदा करने-) वाली हुई।* विधातासे कुछ भी वश नहीं चलता (भाव यह कि विधाताने कहाँ तो इतने ऊँचे महान् श्रेष्ठ सम्बन्ध दिये और कहाँ तुझ ऐसी नीच स्त्रीके गर्भसे मेरा जन्म कराया। यहाँ सम्बन्ध महा अयोग्य है। तुझसे मेरा जन्म न कराना चाहिये था)॥ १६१॥ हे दुर्बुद्धिनी! जब तूने मनमें यह बुरा विचार ठाना तभी तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया॥ १॥ वर माँगते हुए तेरे मनमें पीड़ा न हुई, तेरी जीभ न गल गयी और तेरे मुँहमें कीड़े (क्यों) न पड़ गये?॥ २॥ राजाने तेरा विश्वास कैसे कर लिया? (जान पड़ता है कि) विधाताने मरनेका समय आनेपर उनकी बुद्धि हर ली॥ ३॥ ब्रह्माने भी स्त्रियोंके हृदयकी गति (चाल) नहीं जानी, वे सम्पूर्ण कपट, पाप और दुर्गुणोंकी खानि हैं॥ ४॥† फिर राजा तो सीधे-सादे, सुशील और धर्मपरायण थे, भला वे स्त्री-स्वभावको कैसे जान सकते?॥ ५॥

☞ मिलान कीजिये—***'ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो री?' 'राम जाहु कानन' कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो री॥ दिनकरबंस, पिता दसरथ से, राम लषन से भाई। जननी! तू जननी तौ कहा कहौं? बिधि केहि खोरि न लाई?॥ 'हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो। कुलकलंक मलमूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो॥'*** (१—३) ***ऐहैं राम सुखी सब ह्वै हैं ईस अजस मेरो हरिहैं। तुलसिदास मोको बड़ो सोच तू जनम कौन बिधि भरिहै॥'*** (गी० २। ६०) इससे दोहा और कई चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

प० प० प्र०—हंस=निर्लोभ नृप। **'हंसः स्यान्मानसौकसि। निर्लोभनृपविष्ण्वर्कपरमात्मनि मत्सरे'** इति (अमरव्याख्यासुधायाम्) भाव कि पिता दशरथ तो निर्लोभ नृप थे, पर तू उनकी प्रियतमा पत्नी होकर भी राज्यलोभिनी हुई, यह मेरा अभाग्य है। (हंस श्लेषार्थी शब्दसे यह भी भाव निकला। गीतावलीके अनुसार 'हंस वंश' से सूर्यवंश अर्थ होता है—'*दिनकर बंस पिता दसरथ से*') 'जननी' सम्बोधन देकर जनाया कि आजसे तू 'माता कहलाने योग्य न रह गयी, अब तू मेरी माता नहीं है। 'मान्यत्वात्' माता कहलाती है। तू आजसे केवल 'जननी' रह गयी। (यहाँ कुल, पिता और बान्धवोंकी महान् श्रेष्ठता और माताकी अतिशय नीचता व्यञ्जित करना व्यङ्ग है। व्यङ्ग्यार्थसे अपने और मातामें अनमेलका भाव प्रकट करना 'प्रथम विषम अलङ्कार' है।)

टिप्पणी—१ '*बिधि सन कछु न बसाइ*' इति।—यह आगे-पीछे दोनों ओर लिया जा सकता है। आशय यह है कि विधिको चाहिये था कि तुझे मेरी माता न बनाते, तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े कर डालते

---

* किसी-किसीने अर्थ किया है कि, 'हे माता! तू (अपनी) माता (सरीखी) हुई।' दोहा १२ देखिये। पर यह क्लिष्ट कल्पना और प्रसङ्गके विरुद्ध है। (रा० प्र०) यहाँ तो भाव यह है कि विधाताने इतने सब उत्तम सम्बन्ध दिये पर माता ऐसी नीच और कुलनाशिनी दी। यहाँ व्यंग्यार्थसे अपने और मातामें अनमेल जना रहे हैं। यहाँ प्रथम विषम अलङ्कार है।

† रा० प्र० में ऐसा अर्थ है—'सकल कपट अघ अवगुण खानि जो नारि है उसके हृदयकी गति विधिने भी नहीं जानी है।'

जैसे ही दुर्बुद्धि मनमें आयी थी, मनमें पीड़ा उत्पन्न कर देते, जिह्वा गला देते, तेरे मुँहमें कीड़े पड़ जाते, इत्यादि। उन्होंने कुछ न किया। उनका (और मेरा उनपर) वश नहीं, नहीं तो कुछ करते ही (वा, मैं कुछ कहता ही)। ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं ही स्त्रीकी गति नहीं जान सके तो जब बनानेवालेने ही न जानी तो राजा क्या जान सकते? स्त्रीकी निन्दासे राजाकी अनभिज्ञता सूचित करना 'द्वितीय व्याजनिन्दा' अलङ्कार है।

नोट—१ *'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा।'''* इति। (क) यहाँ मन, जिह्वा और मुँह तीनोंकी निन्दा की, क्योंकि बोलनेमें ये तीनों साधक हैं। पहले बात मनमें आती है, फिर जिह्वाद्वारा मुखसे बाहर निकलती है। मनमें पीड़ा न हुई। (रा० प्र०) अथवा, 'राज्य' ये वर्ण जिह्वासे ही और 'वन' होठसे उच्चारण किये जाते हैं; इसीसे जिह्वा और मुख दोनोंको दोषी ठहराया। (वै०)

नोट—२ (क) *'भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही'''* इति। प० पु० सृष्टिखण्डमें नन्दाने अपने बेटोंसे कुछ नाम गिनाये हैं कि जिनका विश्वास न करना चाहिये। वे ये हैं—नखवाले जीव, नदी, सींगवाले पशु, शस्त्रधारी, स्त्री तथा दूत (का विश्वास न करना चाहिये)। यथा—'**नखिनां च नदीनां च शृङ्गिणां शस्त्रधारिणाम्। विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च॥**' (१८। ३६३) जिसपर पहले कभी विश्वास न किया गया हो ऐसे पुरुषपर तो विश्वास करे ही नहीं और जिसपर विश्वास जम गया हो उसपर भी अत्यन्त विश्वास न करे. अविश्वसनीयपर विश्वास करनेसे जो भय उत्पन्न होता है वह विश्वास करनेवालेका समूल नाश कर डालता है।—'**विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि विकृन्तति।**' (३६४) इसके अनुसार भाव यह हुआ कि राजा नीति जानते थे कि स्त्रीका विश्वास न करना चाहिये तब कैसे विश्वास कर लिया। उसीका फल कुलभरका नाश सामने आया। श्रीत्रिपाठीजी कहते हैं कि भाव यह है कि महाराज जानते थे कि तू कैसे माताकी बेटी है, और यह भी जानते थे कि बेटी माँको पड़ती है, फिर तेरा विश्वास कैसे किया? यथा—'**तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि। असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी॥**' '**सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मे। पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः॥**' (वाल्मी० २। ३५। २७-२८) सुमन्त्रजीने कैकेयीसे कहा कि तू भी अपनी माताकी भाँति दुर्जनोंसे आचरित मार्गमें स्थित है, राजाको मोहमें लाकर असत् कार्यका ग्राहक बनाती है। यह लोक-प्रवाद सत्य मालूम होता है कि पुरुष लोग पिताका अनुगमन करते हैं, और बेटी माँका अनुगमन करती है। इसी बातको लक्ष्य करके भरतजी कहते हैं कि मरणके समय विधाताने बुद्धि हरण कर ली, नहीं तो चक्रवर्तीजी तेरा विश्वास कभी न करते। (यह कथा २। १२ में आ चुकी है)। (ख) स्त्रीके मनकी गति विधाता नहीं जानते, इसका समर्थन हेतुसूचक बातसे करना कि वह सारे कपट, अत्याचार और अवगुणोंकी खानि होती है 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। स्त्रीकी निन्दासे राजा और ब्रह्मामें अनभिज्ञताका दोष प्रकट होना 'द्वितीय व्याजनिन्दा अलङ्कार' है। (वीर)

टिप्पणी—२ *'भूप प्रतीति तोर किमि कीन्ही।'''* इति। पहले राजाको दोष लगाया कि उन्हें स्त्रीका विश्वास करना न चाहिये था, फिर यह निश्चय किया कि उनका दोष नहीं, विधिने मरणकालमें मति ही हर ली। फिर आगे तीसरी तरह इस दोषका निवारण स्वयं करते हैं।

वि० त्रि०—*'बिधिहुँ न नारि'''खानी'* इति। मायाके परिवार काम-क्रोधादिसे शिव-चतुराननके डरनेकी बात सुनी जाती है, और नारि तो इन सबोंसे भी दारुण दुःखद है, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तीन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* (३। ४३) जो जिसकी गति नहीं जानता उसीसे वह डरता है। अतः कहा जा सकता है कि विधाताको भी नारिके हृदयकी गति नहीं मालूम।

टिप्पणी—३ *'सरल सुसील धरमरत राऊ।'''* इति। (क) स्वभाव सरल है, इसीसे तुमसे कह दिया कि कल राजतिलक है, तुम मङ्गल सजो। धर्मरत हैं, अतः स्त्रीको जो वचन दिया उसको सत्य किया

और वरदान दिया, नहीं तो स्त्रीसे काम ही क्या था? जैसे ही सुना था कि कोपभवनमें है उसके पास न जाते। सुशील थे, नहीं तो उसे झिड़क देते। पुन:, (ख) सरल थे, इससे उसका कपट न जाना। धर्मरत हैं, अत: उसका अघ न जाना और सुशील सुन्दर स्वभाव होनेसे उसके अवगुणको न जाना। कपटकी खानि है, इससे रामशपथ कराके वचनमें बाँधकर तब वर माँगा। (ग) *'सो किमि जानइ'* में ध्वनि यह भी है कि यह तो हम ही जानते हैं। या तो रामजी जानें या उनके दास और कोई नहीं जान सकता। (घ) यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

## आत्मग्लानि

प्रोफे० पं० रामचन्द्र शुक्ल—'आत्मग्लानि' का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामीजीने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कविने कहीं दिखाया हो। आत्मग्लानिका उदय शुद्ध और सात्त्विक अन्त:करणमें ही हो सकता है; अत: भरतसे बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराईका अनुभव आप करनेसे होता है अथवा किसी बुरे प्रसङ्गके साथ अपना सम्बन्ध लोकमें दिखायी पड़नेसे उत्पन्न हीनताका अनुभव करनेसे। भरतजीकी ग्लानि थी तो दूसरे प्रकारकी, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी। जिन रामका उनपर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्तिकी दृष्टिसे देखते आये, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दु:ख उनके लिये असह्य था। इस दु:खके भारसे हलके होनेके लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर ग्लानिको वे हृदयमें न रख सके—*'को तिभुवन मोहि सरिस अभागी।'''भागी।'* वे रह-रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफायी दूँ पर लोककी दृष्टिमें निष्कलंक नहीं दिखायी पड़ सकता—*'जो पै हौं मातु मते महँ ह्वै हौं। तौ जननी जगमें या मुखकी कहाँ कालिमा ध्वैहौं? क्यौं हौं आज होत सुचि सपथनि? कौन मानिहै साँची? महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बल-बिसिषन बाँची? गहि न जाति रसना काहू की, कहौ तुम्हैं जो सूझै? दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै?'*

कैकेयीको सामने पाकर इस ग्लानिके साथ अमर्षका संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रताके सामने माताके प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखायी पड़ती है—*'जो पै कुरुचि रही अति तोही।'''''को तू अहसि सत्य कहु मोही॥'*

लोग प्राय: कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है तो संसारके कहनेसे क्या होता है? यह बात केवल साधनाकी ऐकान्तिक दृष्टिसे ठीक है, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे नहीं। आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनोंका समन्वय रामचरितका लक्ष्य है। हमें अपनी अन्तर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिये। जिसका प्रभाव लोकपर न पड़े उसे मनुष्यत्वका पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुत: सात्त्विकशील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्त्विकशीलता समाजके किसी उपयोगकी नहीं। हम अपनी सात्त्विकशीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्गका सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियोंके बीच दस-पाँच दिनके लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़े जायँगे। ऐसे एकान्तिक जीवनका चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायणका लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोकको सामने करता है जिनके सम्बन्धमें राम कहते हैं—*'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'*

**अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥ ६॥**
**भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥ ७॥**
**जो हसि सो हसि मुहुँ मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥ ८॥**
**दो०—राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं।**
**मो समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहिं॥ १६२॥**

शब्दार्थ—'**अहसि**' '**हसि**'=है। **मसि**=स्याही, कालिख। **लाई**=लगाकर।

अर्थ—संसारमें ऐसा कौन जीवजन्तु है जिसे रघुनाथजी प्राणोंसे प्यारे न हों?॥६॥ (सो) वे श्रीरामजी भी तुझे बड़े भारी शत्रु लगे (जान पड़े), (तो) तू कौन है? मुझसे सच-सच बता (अर्थात् स्त्री-वेशमें राक्षसी तो नहीं है)॥७॥ (खैर बिगड़ना था सो तो बिगड़ चुका, अतएव कहते हैं कि) तू जो है सो है, मुँहमें स्याही लगाकर मेरी आँखोंसे ओझल होकर यहाँसे उठकर (और कहीं) जा बैठ॥८॥ विधाताने मुझे श्रीरामसे शत्रुता माननेवाले हृदयसे पैदा किया है (इसलिये) मेरे समान दूसरा कौन पापी है, व्यर्थ ही मैं तुझे कुछ कह रहा हूँ॥१६२॥

टिप्पणी—१ *'अस को जीव जंतु जग माहीं।''''* इति। (क) जीव तीन प्रकारके हैं, यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२७६-३) इनके अतिरिक्त सब जन्तु हैं। जन्तुओंको भी रामजी प्राणप्रिय हैं, यथा—*'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी।''''* (२६२। ८) अथवा, बड़े जीव और छोटे जन्तु अर्थात् छोटे-बड़े सभी जीवोंको वे प्राणप्रिय हैं, यथा—*'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।'* (१। २१६। ७) तू न जीव है, न जन्तु ही है, नहीं तो तुझको भी वे प्राणप्रिय होते। (ख) *'भे अति अहित''''* का भाव कि अहित तो पहले ही हुए जब तूने उनका राज्य छीना, और 'अति अहित' हुए, तभी तो तूने उनको वनवास दिया, कि घर, ग्राम, नगरमें भी न रहने दिया। *'तेउ'* अर्थात् सर्वलोकप्रिय श्रीराम भी।

टिप्पणी—२ *'को तू अहसि सत्य कहु मोही'* इति। जब तू इस जगत्के जीवजन्तुओंमें नहीं है तो आखिर है कौन? भाव कि माया तो नहीं है जो जीवोंको मोहित किया करती है, यथा—*'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भव कूपा॥'* यहाँ *'मोही'* शब्दमें दूसरा गुप्त अर्थ भी प्रकट किया है। अर्थात् जब वह इतनेपर भी न बोली, तब भरतजीने स्वयं ही उत्तर भी अपने प्रश्नका दे दिया कि *'तू मोही'* है, मायाने तुझे मोहित कर लिया है। [वै०, रा० प्र०, पं०—*'को तू अहसि'* अर्थात् पिशाचिनी, डाकिनी, माया, असूया, ईर्ष्या, अविद्यामेंसे कोई है? क्या है?]

टिप्पणी—३ *'जो हसि सो हसि मुहुँ मसि लाई।'''''*, अर्थात् पूछकर क्या करना? [तुझे वध कर ही नहीं सकता क्योंकि रामजी इससे अप्रसन्न होंगे। यथा—'**हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्।**' (वाल्मी० २। ७८। २२) कुबड़ी मन्थराको छुड़ाकर उन्होंने शत्रुघ्नजीसे कहा कि दुष्ट आचरणवाली इस पापिन कैकेयीको मैं स्वयं ही मारता, यदि धर्मात्मा श्रीरामजी मातृहत्या समझकर मुझसे घृणा न करते। तेरा मुँह देखने लायक नहीं है। इस तरह माताका त्याग किया। *'प्रतिकूलस्य वर्जनम्'* यह षट्शरणागतिमेंसे एक है।]

टिप्पणी—४ *'मो समान को पातकी बादि'''''* इति।-जैसे गोस्वामीजीने 'विधि प्रपंच' का वर्णन, 'अवगुणों' का वर्णन और 'असाधु' का वर्णन करके फिर कहा कि *'तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिंग धरमध्वज धंधक धोरी॥'*, वैसे ही भरतजी तो साधु हैं, उन्होंने पहले इतना सब कहा और फिर सब अपने ही ऊपर ले लिया। दूसरेको पापी कहा तो अपनेको धर्मात्मा कैसे कहें? (मिलान कीजिये—*'मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥ फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू॥'* (२६१। ३। ६) *'कैकइ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥'* (१८१। १) *'मो समान को'* में ध्वनि यह है कि है तो तू भी पापिनी पर मैं बड़ा पापी हूँ। कैकेयीके गर्भसे जन्म लेनेके सम्बन्धसे अपनेको पापी समझना 'अर्थापत्ति प्रमाण अलङ्कार' है।

**सुनि सत्रुघुन मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई॥१॥**
**तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥२॥**

**लखि रिस भरेउ लषन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥३॥**
**हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुहभर* महि करत पुकारा॥४॥**

शब्दार्थ—**बरत**=जलती हुई। **हुमगि**=हूँ करके जोरसे, दूरसे ही उछलकर। **मुँह भर**=मुँहके बल। **भर**=भारसे, बलसे, द्वारा, यथा—*'सिरभर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥'* (२०३। ७)

अर्थ—माताकी कुटिलता सुनकर श्रीशत्रुघ्नजीका शरीर क्रोधसे जलने लगा, कुछ बस नहीं चलता॥१॥ उसी समय कुबरी अनेक प्रकारके वस्त्र और गहनोंसे अपनेको सजाये हुए वहाँ आयी॥२॥ लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्नजी उसे देखकर रिससे भर गये, मानो जलती हुई अग्निको घीकी आहुति मिल गयी॥३॥ उन्होंने हुमगकर ताककर कूबड़पर लात मारी। वह मुँह (मुँहके बल) पृथ्वीपर चिल्लाती हुई गिर पड़ी॥४॥

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि पिताके क्रियाकर्मसे निवृत्त होनेपर भरतजी रामचन्द्रजीके पास जानेका विचार करने लगे तब लक्ष्मणके छोटे भाई उनसे बोले कि—श्रीलक्ष्मणजी तो वीर और बलवान् हैं, उन्होंने 'पितृनिग्रह' करके क्यों न रामको वनवाससे छुड़ाया, उन्हें पूर्व ही राजाको ऐसा काम न करने देना चाहिये था।''''ठीक उसी समय मन्थरा देख पड़ी।—(सर्ग ७८ श्लोक १—५) वाल्मीकिजीने भी इस स्थलपर शत्रुघ्नजीको 'लक्ष्मणानुज' विशेषण दिया है—'**अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः। भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत्॥**' (१)''''**इति संभाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे। प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता॥**' (५) वैसे ही पूज्य मानसकारने भी यहाँ *'लषन लघु भाई'* पद दिया है। लक्ष्मणजीका रोष और क्रोधी स्वभाव सबको विदित है, ये उनके छोटे भाई हैं, इनको इस अनुचित कार्यपर और रामवनवासके मुख्य कारणपर क्यों न रोष होता? वाल्मीकिजी कहते हैं कि इन्होंने सबसे कहा कि इसने मेरे भाइयों तथा पिताको बड़ा दुःख दिया है अब यह अपने क्रूर कर्मका फल पावे। पुनः, यहाँ *'लषन लघुभाई'* के साथ ही 'लखि' शब्द भी देकर 'लषन' का सम्बन्ध देनेका दूसरा कारण भी जना दिया है। अर्थात् इन्होंने भाँप लिया कि बस सब अनर्थका कारण यही है।

☞ देखिये, मानसमें प्रथम ही दिन और कैकेयीके समीप इस अवसरपर मन्थराका आना और उसपर क्रोधका उतारा जाना वाल्मीकीयके चौदह दिन पीछेवाली बातसे कहीं उत्तम है।

टिप्पणी—१ *'सुनि सत्रुघुन''''जरहिं गात रिस''''* ' इति। *'सुनि'* अर्थात् कैकेयीने जब अपनी करनी वर्णन की तब सुना। क्रोध भरा है, कुछ बस नहीं चलता; क्योंकि स्वामी (भरत) की माता हैं, उनको कुछ कह नहीं सकते। पुनः, भरतजीने तो बहुत कुछ कह डाला इससे उनकी रिस तो पच गयी, शान्त हो गयी, परन्तु इनका क्रोध ज्यों-का-त्यों भरा छातीको जला रहा है। उसके उतारनेका उपाय भगवान्ने तुरत ही कर दिया। भागवतका क्रोध मिथ्या कैसे जाय?

टिप्पणी—२ (क) *'तेहि अवसर'* अर्थात् जब वे क्रोधसे संतप्त हो रहे थे उसी समय। [(ख) *'बसन बिभूषन बिबिध बनाई'*—वह चन्दनका इत्र लगाये हुए थी, राजोचित वस्त्र धारण किये हुए थी। जड़ाऊ करधनी आदि अनेक आभूषणोंसे विभूषित थी। कैकेयीजीने जो कहा था कि *'जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करौं तोहि चखपूतरि आली॥'* (२३। ३) उसे यहाँ चरितार्थ किया। रानीने इसको सखी बनाकर सखीका सब शृङ्गार किया। वह सखियोंसे घिरी हुई आयी थी—'**सखीजनसमावृता**' (२। ७८। १२) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि कैकेयीका वह पूरा होनेवाला मनोरथ पूर्ण हुआ, रामजी वनको गये। उसी दिन कुबरी आँखकी पुतली बनायी गयी। ऐसे आभूषण-वसन उसे मिले, जिनके पहिननेका अधिकार केवल सचिव-सेनापति आदिकी स्त्रियोंको था। आज भरतजीका आना सुनकर वह उन्हीं वस्त्र-आभूषणोंसे सुसज्जित होकर भरतजीसे सत्कार पानेकी आशासे आयी।]

टिप्पणी ३—*'लखि रिस भरेउ लषन लघु भाई'* इति। उसी समय कुबरी बनी-ठनी आयी। उसे देखकर

* भर-राजापुर (गी० प्रे०), भरि-को० रा०, रा० प०, ना० प्र०।

समझ गये कि सब इसीका किया हुआ है। दुःख और शोकके समय इसे शृङ्गार भाया है। रिस तो भरी थी ही, बस इसे देख क्रोधाग्नि भभक उठी। यहाँ *'लषन लघु भाई'* का प्रयोग साभिप्राय है। लक्ष्मण बड़े क्रोधी हैं, अनुचित जरा भी सह नहीं सकते—धनुषयज्ञमें जनकवचन सुनकर न सह सके। क्रोध आ गया, यथा—*'रदपट फरकत नयन रिसौहैं;'* केवटके वचनपर रामजी हँसे पर इनकी त्योरी बदल गयी थी—*'बरु तीर मारहु लषन'''''।'* लक्ष्मणजी जब-तब कुबरीको दण्ड देते ही थे, यथा—*'दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे';* अतएव उनके छोटे भाई भी वैसे ही हुआ चाहें। पुनः, [(२)*'लषन लघु भाई'* कहा; क्योंकि इन्होंने लख लिया कि सारे अनर्थकी जड़ यही कुबड़ी है। (पाँड़ेजी) लक्ष्मणजी बड़े लखनेवाले हैं, इसीसे लषन कहलाते हैं। ये छोटे भाई हैं, अतः इन्होंने भी लख लिया कि रामवनवासके उपलक्ष्यमें पाये हुए वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई भरतके राज्य पानेका इनाम लेने आयी है। (वि० त्रि०) (३) लक्ष्मणजीने शूर्पणखाकी नाक काट ली, इन्होंने कुबरीको दण्ड दिया। (पंजाबीजी)] पुनः, (४) *'लघु भाई'* कहकर व्यवहारदेशमें बड़ाई की और परमार्थ-देशमें नाम धरा कि छोटे हैं, लड़के हैं, क्यों न मारें, यह काम बड़ेसे नहीं हो सकता।

टिप्पणी—४—*'करत पुकारा'*—कैकेयीकी दोहाई देती है। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि कैकेयीजी उसे छुड़ाने आयीं, पर शत्रुघ्नजीने उन्हें डाँट दिया। भरतके छुड़ा देनेपर वह कैकेयीके चरणोंपर गिर पड़ी और बड़े दुःखसे कैकेयीकी ओर देख रही थी। इससे जान पड़ता है कि चीत्कार करके कैकेयीकी दुहाई देने लगी थी।)

**कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥ ५॥**
**आह दइअ मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा॥ ६॥**
**सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥ ७॥**
**भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई॥ ८॥**

शब्दार्थ—दलित=टूट गये। **प्रचारू**=बह निकला, जारी हो गया। **अनइस** (अनैस। सं० अनिष्ट=बुराई, अहित=बुरा, जो इष्ट न हो। **झोंटी**=चोटी, बालोंका समूह। **फूट**=फट गया—फूटना क्रिया उन वस्तुओंके फटनेके लिये प्रयुक्त होती है जिनके ऊपर आवरण या छिलका हो और भीतर या तो पोला हो अथवा मुलायम या पतली चीज भरी हो। ऊपरका चर्म निकलकर रक्त निकलने लगना।

अर्थ—उसका कूबड़ टूट गया, खोपड़ी फूट गई (रक्त निकलने लगा), दाँत टूट गये, मुँहसे रक्त बहने लगा॥ ५॥ वह कराहती साँस भरती हुई बोली—हाय! दैव! मैंने क्या बिगाड़ा, जो भला करते बुरा फल पाया॥ ६॥ यह सुनकर और इसे नखसे शिखापर्यन्त अर्थात् सर्वाङ्गसे दुष्टा जानकर शत्रुको मारनेवाले शत्रुघ्नजी झोंटा पकड़-पकड़कर उसे घसीटने लगे॥ ७॥ तब दयासागर भरतजीने उसको छुड़ा दिया और दोनों भाई कौसल्याजीके पास गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित'''''* इति।—सरस्वतीने कुबरीद्वारा कहा था कि *'फोरइ जोग कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥'* (१६। २) पुनः, जो भरतजीने कैकेयीके लिये कहा है कि *'खंड खंड होइ हृदय न गयऊ'* इत्यादि, वह सब दशा मन्थराकी हुई। शत्रुघ्नजीने लात मारी तो कपाल फूटा, मुँहसे रुधिर गिरा (यही मानो कोड़ा पड़ना है। मुँहको दण्ड मिल चुका)। मारी गयी, यही हृदयका खंड-खंड होना है। दाँत गिरे यह मानो यमदण्ड हुआ; क्योंकि दाँतके देवता यम हैं। पृथ्वीने भी दण्ड दिया। [मन्थराने कहा था *'जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहि सजाई॥'* और उसने सरासर असत्य कहा, यथा—*'भएउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'* तथा—*'पूछा गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥',* इत्यादि। **'अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते'** इसने अत्युग्र पाप किया है, अतः विधिने इसे इस लोकमें ही दण्ड दिया। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी २—*'आह दइअ मैं काह नसावा।""'* इति। यहाँ कविने खोला कि बन-सँवरकर आनेका क्या अभिप्राय था। यह सोचकर आयी थी कि मैंने राज्य दिलाया है, मुझे बड़ा इनाम मिलेगा। यह सुन शत्रुघ्नजी समझ गये कि यह सिरसे पैरतक खोटी है, केवल कूबड़हीमें दोष नहीं है, यथा—*'काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि पुनि चेरि॥""'* यह सर्वाङ्गदण्ड-दु:ख पाने योग्य है। अत: *'लगे घसीटन""।'* *'करत नीक फल अनइस पावा'* का सरस्वती कृत गुप्तार्थ यह भी है कि 'शत्रुघ्नजीने अच्छा किया जो मारा, बुराईका फल मिला।'

नोट—१ *'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी'* इति। भाव कि बनी-ठनी आई देखकर एक लात भर मारी थी। पर जब उसने यह कहा कि भलाई करते बुराई मिली, तब क्रोध और बढ़ गया कि सारी माया इसीकी है, इनाम लेने आयी है, अत: बार बार झोंटा पकड़कर घसीटने लगे। यह इनाम दिया। *'धरि-धरि'* से जनाया कि एक बार घसीटकर छोड़ देते थे, फिर (सम्भवत: उसके कुछ कहनेपर) झोंटा पकड़कर घसीटने लगते थे, इत्यादि।

नोट २—*'भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई'* इति। भरतजी साधु हैं, साधु दयालु होते ही हैं, यथा—*'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'* (३। २। ९) ये तो दयाके समुद्र हैं अत: छुड़ा दिया। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि कैकेयी उसे छुड़ाने आयी पर उन्होंने डाँट दिया जिससे वह डरकर भरतजीकी शरणमें गयी। भरतजीने शत्रुघ्नजीसे यह कहकर उसे छुड़ाया कि स्त्रियाँ सबके लिये अवध्य हैं, अतएव इसे क्षमा करो। दुष्टाचरण पापिन कैकेयीको मैं स्वयं मारता यदि धर्मात्मा रामजी इस मातृहत्यासे मुझके घृणा न करते। यदि वे मन्थराका मारा जाना सुनेंगे तो वे निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे। (यथा—'**अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति। इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः॥ त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्।**' (२। ७८। २१, २३)

**दो०—मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भारु।**
**कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुसारु॥ १६३॥**
**भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥ १॥**
**देखत भरतु बिकल भये भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥ २॥**

शब्दार्थ—*'कनक कलप बर बेलि'*=सोनेकी सुन्दर कल्पलता। 'झइँ'=आँखोंके सामने अँधेरा छा जाना, चक्कर, घुमनी, तिलमिलाहट।

अर्थ—माता कौसल्याके वस्त्र मैले हैं, शरीरका रंग बदरंग (फिका, पीला, द्युतिहीन) है, दु:खके बोझसे वे व्याकुल हैं, शरीर दुर्बल हो गया है। (ऐसी दिख रही हैं) मानो वनमें* सोनेकी सुन्दर कल्पलताको पाला मार गया हो॥ १६३॥ भरतको देखते ही माता उठ कर दौड़ीं, पर चक्कर आ गया, वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ १॥ यह स्थिति देखते ही भरतजी बड़े व्याकुल हो गये और उनके चरणोंपर गिर पड़े, तनकी दशा भूल गये॥ २॥

प० प० प्र०—*'मलिन बसन""उठि धाई'* इति। (क) *'आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि।""'* इत्यादिसे मिलान करनेसे पाठक देखेंगे कि यहाँ कैसे दो विरोधी शब्दचित्र हमारे सामने खड़े कर दिये हैं। दोनों ही *'उठि धाईं'* पर दोनोंके हृदयके भाव भिन्न-भिन्न हैं। कैकेयीके चरणोंपर भरतजीका पड़ना न लिखकर कविने प्रारम्भमें ही जना दिया कि अब वह सम्मान योग्य नहीं रह गयीं। कैकेयीने भरतजीको हृदयसे नहीं लगाया, उसके इस आचरणसे सूचित किया कि वह राज्यलोभमें सौतियाडाहसे पुत्रवात्सल्य भी खो बैठी है।

---

*१—यही अर्थ रा० प्र०, दीनजी, बैजनाथजी आदिने भी किया है और यही सुसंगत प्रतीत होता है। बा० श्यामसुन्दरदास और वीरकविने 'कल्पलताका बगीचा' और 'स्वर्ण निर्मित श्रेष्ठ लतासमूह' अर्थ किया है। २—पाण्डेजी कहते हैं कि बर बेलिसे नागबल्ली समझना चाहिये, इसका अग्रभाग स्वर्णके तुल्य होता है।

(ख) *'कनक कलप बर बेलि बन'''* इति। पूर्व अवधको गहरा वन कहा है—*'नगरु सफल बन गहबर भारी।'* (८४। २) और श्रीभरतजीने आनेपर परिवारको ऐसा देखा *'मानहु तुहिन बनज बन मारा।'* (१५९। ४) परिवार कमलवन है। कौसल्याजी कल्पबेलि हैं। इससे सूचित हुआ कि नगरनिवासियोंकी अपेक्षा परिवार कोमल है और इनकी अपेक्षा श्रीकौसल्याजी अधिक कोमल हैं। कैकेयीपर पतिमरणका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वह तो प्रसन्न है—*'मुदित उठि धाई।'*

नोट—*'परे चरन तन दसा बिसारी'* इति। भाव कि वस्त्र कहीं गिरा, आप कहीं गिरे, चीख मारकर रोते और बातें कहते हैं। (पं०)

**मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय राम लषनु दोउ भाई॥ ३॥**
**कइकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥ ४॥**
**कुलकलंकु जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥ ५॥**
**को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥ ६॥**
**पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥ ७॥**
**धिग मोहि भएउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥ ८॥**

शब्दार्थ—लागी=कारण। भागी=पानेवाला।

अर्थ—हे माता! पिता कहाँ हैं? पिताजीको दिखा दे। श्रीसीताजी और श्रीराम-लक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं, उन्हें दिखा दे*॥ ३॥ कैकेयी संसारमें क्यों जन्मी? यदि जन्मी ही थी तो बाँझ क्यों न हुई ? अर्थात् बाँझ होनेसे न संतान ही होती, न यह अनर्थ खड़ा होता॥ ४॥ जिसने कुलको कलङ्कित करनेवाला, अपयशका पात्र, प्रिय लोगोंका द्रोही मुझ (ऐसे पुत्र) को पैदा किया॥ ५॥ तीनों लोकोंमें मेरे समान भाग्यहीन कौन होगा कि जिसके कारण, माता! तेरी ऐसी दशा हुई॥ ६॥ पिता स्वर्गको और रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी वनको गये, इस सब अनर्थका कारण केवल मैं केतुकी तरह हूँ॥ ७॥ मुझे धिक्कार है! मैं बाँसके जंगलके लिये अग्निरूप उत्पन्न हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषोंका भागी हुआ॥ ८॥

नोट—१ *'रघुबर केतू'* प्राचीन प्रतियोंका पाठ है। आधुनिकमें कहीं-कहीं *'रघुकुलकेतु'* पाठ है। 'केतु' को 'मैं' (भरत) का विशेषण मान लेनेसे अच्छा और सुसंगत अर्थ होता है—पिता स्वर्गको गये, रघुवर वनको गये। सब अनर्थका कारण मैं ही केतु हूँ। अर्थात् सबके हितमें मैं केतुसम दुःखदायी प्रकट हुआ, रामराज्यसे सबका हित था। *'उदय केतु सम हित सब ही के।'* (१। ३। ६) देखिये। केतुके उदयसे राजाका मरण, प्रजाको क्लेश, कलह आदि अनर्थ होते ही हैं। यथा—*'दुष्ट उदय जग आरत हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥'* (७। १२०) यही अर्थ बाबा हरिहरप्रसादने किया है। कुछ लोगोंने यों अर्थ किया है—'रघुकुलके श्रेष्ठ पताका रामजी वनको गये।' पर जो उत्कृष्टता अनर्थके प्रसङ्गसे पुच्छल तारा केतुके अर्थमें है वह इस अर्थमें नहीं है। दूसरे, 'रघु' का अर्थ 'रघुकुल' लेनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अन्वय भी सीधा है। लोगोंने न समझकर पाठ बदल दिया है। 'रघुबरकेतू' को एक शब्द माननेसे भावकी चोखाई ही मारी जाती है।

प० प० प्र०—*'मातु'* सम्बोधनसे उनकी माननीयता सूचित की गयी *'कइकइ कत जनमी'*—कैकेयीको माता न कहकर *'जननी'* कहा था और अब उसे 'जननी' भी कहनेमें सङ्कोच होता है, अतः *'कइकइ'* कहा।

पु० रा० कु०—मातासे पूछते हैं कि श्रीसीताराम-लक्ष्मण कहाँ हैं। जो वे कहें कि क्या तुम सुन नहीं चुके? उसपर कहते हैं कि कैकेयी क्यों पैदा हुई, पैदा हुई तो बाँझ होती। उससे क्या अकाज

* यहाँ 'कहँ' श्लेषपद है। 'देहि देखाई' दीपदेहरी न्यायसे दोनों ओर लगता है।

हुआ, वह कहते हैं कि मुझसे कुलको कलंक हुआ, श्रीसीताराम-लक्ष्मण, राजा, तुम, सब माताओं, कुटुम्बियों और पुरजन आदि सभी प्रियजनोंका मैं द्रोही बना। त्रिलोकीमें मेरे समान कोई अभागा नहीं है, यह कहकर उसका कारण बताते हैं कि स्वर्ण-कल्पलताके समान आपका रंग था। उसकी यह दशा हो गयी। अथवा, पुत्रको वन जाना पड़ा, तुम्हें वैधव्य प्राप्त हुआ इत्यादि सभी दुःखोंका भार एकदम तुमपर आ पड़ा। अतएव कैकेयी बाँझ होती तो भला था।

नोट—२ *'भयउँ बेनु बन आगी'*—*'भइ रघुबंस बेनु बन आगी।'* (४७। ४) देखिये। बाँसके वनमेंसे ही परस्पर रगड़से अग्नि उत्पन्न होकर वनको जला देती है, वैसे ही मैं इसी कुलमें पैदा हुआ और उसीको जलाया। कैकेयीसे पैदा होनेके कारण और अपने ही लिये सब अनर्थका किया जाना समझकर जो दोष लोग कैकेयीको लगाते थे कि *'भइ रघुबंस बेनु बन आगी'* उसे श्रीभरतजी अपने ऊपर ले रहे हैं।

**दो०—मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि।**
**लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि॥१६४॥**
**सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥१॥**
**भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई॥२॥**
**देखि सुभाउ कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई॥३॥**

अर्थ—श्रीभरतजीके कोमल वचनोंको सुनकर माता कौसल्या फिर सँभल कर उठीं, उनको उठाकर छातीसे लगा लिया और नेत्रोंसे आँसू बहा रही हैं। १६४। सहज ही सरल स्वभाव माताने बड़े ही प्रेमसे* उन्हें हृदयमें लगा लिया, मानो श्रीरामजी ही लौट आये हों॥१॥ फिर लक्ष्मणजीके छोटे भाईको छातीसे लगाया। शोक और स्नेह हृदयमें नहीं समाता अर्थात् अश्रु आदिद्वारा बाहर निकल पड़ता है॥२॥ कौसल्याजीका स्वभाव देखकर सभी लोग कह रहे हैं—ये रामकी माता हैं ऐसी क्यों न हों? अर्थात् उनका ऐसा स्वभाव होना योग्य ही है॥३॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'पुनि उठी'* इति। पूर्व भरतजीके आते ही कहा है कि ***'भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई',*** अतएव अब *'पुनि उठी'* कहा। *'सँभारि'* क्योंकि विह्वल हैं, दूसरे चक्कर आ चुका है।

टिप्पणी—२ *'सरल सुभाय माय हिय लाए।'''* इति। सरल स्वभाव माताका विशेषण है, अर्थात् माता जो सरलस्वभाव हैं, जिनमें छल छू नहीं गया, जो स्वभावसे ही सरल हैं। यथा—***'राममातु सुठि सरल चित'''।*** सरलता यह कि जिस कैकेयीने इनके पुत्रको वन दिया, पतिको मारा, उसीके ये पुत्र हैं, सो भी इनको अपने पुत्रकी तरह छातीसे लगा लिया। इतने बड़े अपकारपर दूसरा कोई मुँह भी न देखता। यथा—***'सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्राजू सों मैं न लखी सौति सखी! भगिनी ज्यों सेई है। कहैं मोहि मैया, कहौं मैं न मैया भरत की, बलैया लेहौं भैया तेरी मैया कैकेयी है।'*** (क० अ० ३) ***'तुलसिदास समुझाइ भरत कहँ आँसु पोछि उर लाए। उपजी प्रीति जानि प्रभुके हित मनहु राम फिरि आए॥'*** (गी० २। ६३। ३)

टिप्पणी—३ *'भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई।'''* इति। (क) *'लषन लघु भाई'* का भाव कि इन्हींके बड़े भाई हमारे पुत्रको संकटमें काम आये, उनके साथी बने। पुनः, भाव कि श्रीभरतजीसे मिलनेमें श्रीरामजीके मिलनेका सुख प्राप्त हुआ था और इनकी भेंटसे लक्ष्मणजीका सुख मिला—यह जनाया (ख) *'सोक सनेह'''।'* शोक राजाकी मृत्यु और रामवनगमनका, स्नेह भरतशत्रुघ्नकी भेंटका।

टिप्पणी ४—*'राममातु अस काहे न होई'*। *'सब कोई'* अर्थात् छोटे-बड़े, पण्डित-मूर्ख सभी जो वहाँ थे। रामकी माता हैं, वे *'सरल सुभाव छुआ छल नाहीं'* हैं। तो उनकी माताका स्वभाव ऐसा क्यों न

* यों भी अर्थ होता है—'सरल स्वभाव और बड़े प्रेमसे माताने'।

हो? हुआ ही चाहे। पुनः, जिनके उदरसे राम-ऐसे पुत्र हुए, उनका स्वभाव ऐसा हुआ ही चाहे। कारणके समान कार्यका होना 'दूसरा सम' अलङ्कार है।

**माता भरतु गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे॥ ४॥**
**अजहुँ बच्छु बलि धीरजु धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥ ५॥**
**जनि मानहुँ हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥ ६॥**
**काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥ ७॥**
**जो एतेहु दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा॥ ८॥**

शब्दार्थ—**अघटित**=जो घट-बढ़ न सके, अवश्य होनेवाली, अमिट।

अर्थ—माताने भरतजीको गोदमें बिठा लिया और भरतजीके आँसू पोंछकर कोमल वचन बोलीं—॥ ४॥ हे वत्स! मैं बलिहारी जाती हूँ, अब भी धीरज धरो, कुसमय समझकर शोकको छोड़ो॥ ५॥ काल और कर्मकी गतिको अमिट जानकर मनमें हानि-ग्लानि मत मानो॥ ६॥ हे तात! किसीको दोष मत दो, विधाता सब प्रकार मुझे प्रतिकूल हो गया है॥ ७॥ जो इतने दुःखमें भी मुझे जिला रहा है तो कौन जानता है कि उसे अब भी क्या भा रहा है?॥ ८॥

नोट—१ *'माता भरतु गोद बैठारे।'''* ' इति। वाल्मीकि तथा अ० रा० वाले कल्पोंकी माता कौसल्या और मानसकल्पकी कौसल्यामें बहुत अन्तर है। वाल्मीकि आदिकी कौसल्या यद्यपि जानती हैं कि भरत दीर्घदर्शी हैं तब भी उन्होंने भरतको गोदमें तभी बैठाया है जब वे शपथद्वारा अपनी सफाई दे चुके। यथा—**'इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्। परिष्वज्य महाबाहुं''''।'** (२। ७५। ६३) **'इत्येवं शपथं कृत्वा रुरोद भरतस्तदा।'** (अ० रा० २। ७। ९०) **'कौसल्या तमथालिङ्ग्य पुत्र जानामि मा शुचः।'** *'गोद बैठारे'* और *'आँसु पोंछि'* से श्रीभरतजीमें उनका पूर्वसे वात्सल्यरसका प्रेम दिखाया।

टिप्पणी—१ *'मृदु बचन उचारे'* इति। कैकेयीके वचन शूलके समान थे, यथा—*'भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बैन।'* (१५९)। कौसल्याजीके वचन कोमल हैं।

टिप्पणी—२ *'अजहुँ बच्छु बलि धीरजु धरहू।'''* ' इति। (क) भरतजीने अपनेको 'कुलकलंक, अभागी, धिग, दाह दुख दूषन भागी' इत्यादि कहा और आँसू अबतक जारी हैं। ये अधीरके लक्षण हैं, अतएव माता कहती हैं कि धैर्य धारण करो। *'अजहुँ'*=अब भी। अर्थात् राजाकी मृत्यु, रामवनगमन, इतनी विपत्तिपर भी सावधान होना उचित ही है। [(ख) *'कुसमउ समुझि'* का भाव कि आपतकाल है, आपत्ति सबपर आती है पर बीत भी जाती है, ये बुरे दिन फिरेंगे, सदा ऐसे न बने रहेंगे। (पंजाबीजी),खोटे कालमें शोक ही भर हाथ लगता है और कुछ नहीं मिलता (रा० प्र०)]

नोट—२ *'जनि मानहु हिय हानि गलानी।'''* ' इति। (क) नृपमृत्यु, रामवनगमन हानि है और अपने कारण यह सब हुआ, अपनेको अपराधी मानना ग्लानि है। (रा० प्र०) (ख) शुभाशुभ कर्मोंका फल काल पाकर परिपक्व होता है, उसमें कुछ घट-बढ़ नहीं होता इति। कालकर्मगतिको अमिट जानकर। ऐसे ही सुमन्त्रजीने महाराज दशरथजीको समझानेकी चेष्टा की थी। यथा—*'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा॥' 'काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥' 'धीरज धरहु बिबेक बिचारी। छाड़िअ सोच सकल हितकारी।'* (१५०। ५—८) वे ही सब भाव यहाँ *'धीरजु धरहू''''जानी'* के हैं। (ग) भरतजीने दो बातें कहीं। (१) मुझको धिक्कार है अर्थात् अपनेको दोष दिया। (२) कैकेयीको दोष लगाया। दोनोंका उत्तर क्रमसे माता देती हैं। पहलेका उत्तर कि अपने मनमें हानि और ग्लानि न करो और दूसरेका आगे कहती हैं कि *'काहुहि दोसु देहु जनि ताता'* अर्थात् न कैकेयीको दोष दो और न अपनेको धिक्कार दो। इस प्रकार कैकेयीको भी निर्दोष ठहराया। और फिर सारा दोष अपने भाग्यके मत्थे डालती हैं। (पु० रा० कु०) (घ) *'काहुहि दोसु''''बिधाता'* इति। मिलान कीजिये—*'काहे को खोरि*

*कैकइहि लावों। धरहु धीर बलि जाउँ तात मोहि आजु बिधाता बावों॥ सुनिबे जोग बियोग राम को हौं न होउँ मेरे प्यारे। सो मेरे नयननि के आगे रघुपति बनहिं सिधारे॥'* (गी० २। ६३)

नोट—३ *'जो एतेहु दुख मोहि जिआवा।''''''* इति। *'सब बिधि बाम'* वही *'एतेहु'* है। पति, पुत्र, पुत्रवधू इत्यादिको सुख जाता रहा और बिछोह हुआ। क्या जाने अभी क्या-क्या न सहना पड़े, यह मुहावरा है। आगे दैवने और दिखाया ही कि भरतके सिरपर भी जटाएँ धारण करायीं और उनको भी १४ वर्षके लिये उदासी वेष दिया, नगरसे बाहर वनवासकी तरह रखा। (पु० रा० कु०)

**दो०—पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।**
**बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरें बलकल चीर॥१६५॥**

**मुख प्रसन्न मन रंग* न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥१॥**
**चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥२॥**
**सुनतहिं लषनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥३॥**
**तब रघुपति सब ही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥४॥**

अर्थ—हे तात! पिताकी आज्ञासे रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीने भूषण-वस्त्र त्याग दिये, वल्कलवस्त्र पहिन लिये, उनके मनमें कुछ भी हर्ष-विषाद न हुआ॥१६५॥ उनका प्रसन्न मुख था मनमें न किसीसे ममत्व (प्रेम) न किसीपर क्रोध, सब प्रकार सबका संतोष करके वे वनको चले। 'वनको चले' यह सुनकर सीताजी भी उनके साथ लगीं, (किसी तरह) नहीं रहतीं क्योंकि वे रामचन्द्रजीके चरणोंमें अनुरक्त हैं॥ १-२॥ यह सुनते ही लक्ष्मणजी भी उठकर साथ चले। रघुनाथजीने बहुत उपाय किये पर वे नहीं रहते† ॥ ३॥ तब सबको माथा नवाकर रघुपति श्रीरामजी चले। साथमें सीता और छोटे भाई थे॥४॥

टिप्पणी—१ *'तजे रघुबीर'* से धर्म तथा त्याग-वीरता दिखायी। वल्कलवस्त्र धारण करनेमें खेद न हुआ, राज्यतिलक सुनकर हर्ष न हुआ, यथा—*'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भएउ न हरष हरासू॥'* (१४८। ७) [यह सुशील स्वभाव राजाके मनमें गड़ गया था, वैसे ही माताके हृदयमें भी इसका प्रभाव पड़ा, इसीसे इस गुणका दोनोंहीने स्मरण किया। (प्र० सं०) भूषण-वस्त्रका त्याग करके वल्कलादि पहिननेकी आज्ञा पिताने अपने मुखसे तो दी नहीं, कैकेयी ही *'मुनि पटभूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥'* (७९। २) पर कौसल्याजी *'पितु आयसु'* कहती हैं। इससे सूचित हुआ कि कौसल्याजीका हृदय राग-द्वेषादि विकाररहित और भरतप्रेमपरिप्लुत है। (प० प० प्र०) वे इसे राजाकी ही आज्ञा मानती हैं, क्योंकि वे वचनबद्ध हो चुके थे। *'तापस बेष बिसेषि उदासी'* यह वर कैकेयीने माँगा था। उससे भूषण-वस्त्रका त्याग वल्कलादिका धारण करना ही माँगा गया था।]

टिप्पणी—२ *'मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू।''''''* इति। (क) यथा—**'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य'**। वही भाव यहाँ है। पुनः भरतजी उनको प्राणप्रिय हैं,

---

* 'रङ्ग'—(ला० सीताराम) 'रंग' का अर्थ 'प्रसन्नता, प्रेम, अनुराग' है, यथा—'जब हम रँगी श्यामके रंगा। तब लिखि पठवा ज्ञान प्रसंगा'—(रघुनाथदास), 'ऐसे भए तो कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते।' (क०), 'देखु जरनि जड़ नारि की जरत प्रेमके संग। चिता न चित फीको भयो रची जु पियके रंग।' (सूर) इत्यादि। 'रंग' और 'संग' का जोड़ना भी अच्छा है। 'राग' पाठान्तर है।

† 'रहइ' और 'रहहि' वर्त्तमान क्रियाएँ हैं। इन्हें देकर दिखाते हैं कि कौसल्याजी इस तरह कह रही हैं मानो अभी उनके सामने यह लीला हो ही रही है। जैसा गीतावलीमें कहा है—'लगेई रहत मेरे नयननि आगे राम लषन अरु सीता।' (५३) अतः इस दीनने उसीके अनुकूल अर्थ दिया है। टीकाकारोंने 'रही' और 'रहे' अर्थ किया है।

अतः उनके राजा होनेसे उनको परम प्रसन्नता हुई, यथा—*'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'* (४२। १) अतः मुख प्रसन्न है। मुख और मन दोनों प्रसन्न हैं, यथा—*'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।'* (५१। ८) *'बन गमन सुनि उर अनंद अधिकान॥'* (५१) 'रंगरोष' नहीं, राज देकर छीन लिया इसपर रोष नहीं, राज्यकी कुछ चाह नहीं, बटोहीकी तरह उसे त्यागकर चल दिये। (ख) *'सब कर सब बिधि करि परितोषू'* इति। जब राग-रोष नहीं तो कहा जा सकता है कि उदासीन होंगे, किसीसे कुछ प्रयोजन न होगा। उसपर कहती हैं कि *'सब कर सब बिधि करि परितोषू'* अर्थात् दास-दासियोंको गुरुके सुपुर्द किया, परिजन-पुरजन सबको समझाया कि भरत आवेंगे, दुःख किसीको न होगा, हम भी अवधि पूरी होते ही आवेंगे, इत्यादिसे सूचित किया कि सबपर प्रेम और दया भी रखते हैं।—[*'सब बिधि'* अर्थात् लोकरीति, वेदरीति, धर्म, नीति सभी तरह। (वै०)]

नोट—१ *'रहहिं न जतन किए रघुनाथा'* इति। 'रघुनाथ' शब्द देकर यत्नका प्रकार भी जना दिया कि रघुकुलकी तथा अवधकी जिसमें रक्षा हो, अवध अनाथ न हो इसलिये उनको घर रहनेको कहा था। यथा—*'मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥'*(७१। ३)। विशेष *'आयसु काह होइ रघुनाथा।'* (५९। ७) तथा *'मोकहुँ काह कहब रघुनाथा।'* (६०। ५) में देखिये। इससे लक्ष्मणजीका गाढ़ प्रेम दिखाया।

नोट-२ *'रहइ न'* अर्थात् हमने बहुत यत्न किया, राजाने भी समझाया और गुरुपत्नी बड़ी-बूढ़ी सभीने समझाकर रोकना चाहा। श्रीरामजीने भी समझाया पर वे न रहीं। (पु० रा० कु०)

**रामु लषनु सिय बनहिं सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए॥५॥**
**एहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगें। तउ न तजा तनु जीव*अभागें॥६॥**
**मोहि न लाज निज नेहु निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥७॥**
**जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥८॥**
**दो०—कौसल्या के बचन सुनि भरत सहित रनिवासु।**
**ब्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोक निवासु॥१६६॥**

अर्थ—राम-लक्ष्मण-सीता बनको चल दिये, मैं न तो साथ गयी और न उनके साथ अपने प्राणोंको ही भेजा॥५॥ यह सब इन्हीं आँखोंके सामने हुआ तब भी अभागे जीवने शरीर न छोड़ा॥६॥ अपना प्रेम देखकर मुझे लज्जा भी नहीं आती कि कहाँ तो राम ऐसे सुत और कहाँ मुझ-सी माता! (अर्थात् मैं ऐसे प्रेममूर्ति सुशील धर्मात्माकी माता होने योग्य नहीं, मुझे धिक्कार है, व्यर्थ ही मुझे यह बड़ाई विधाताने दी, यथा—*'जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता'* ॥७॥ जीना और मरना तो राजाने ही अच्छी प्रकार जाना और मेरा हृदय तो सैकड़ों वज्रके समान (कठोर) है॥८॥ कौसल्याजीके वचनोंको सुनकर रनिवाससहित भरतजी व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं, मानो राजमहल शोकका निवास है (जहाँ आनन्दका बास रहता है और रहना चाहिये वहाँ शोक रह रहा है।)॥ १६६॥

नोट—१ श्रीरामजीका सुशील स्वभाव कहकर अब अपनेको धिक्कारती हैं।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'रामु लषनु सिय""तउ न तजा'* इति। रामवियोग होनेसे शरीरका मोह छोड़ देना था यह न कर सकी थी, तो फिर लक्ष्मण और सीताका प्रेम देखकर मुझे भी साथ हो लेना था। साथ जाती सो भी न गयी! संग न हुआ था तो प्राण दे देती, जैसे राजाने किया। दोनोंमें मेरे प्रेमकी प्रशंसा थी सो एक भी न किया। इससे जाना गया कि मेरा जीव अभागा है। रामसे विमुख होकर अभागे ही जीते हैं। यथा—*'ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।'* (वि० १४०)

* काशिराज, राजापुर, छक्कनलाल, रा० गु० द्वि० का पाठ यही है। 'प्रान' पाठान्तर है। जीव ही शरीर धारण करता और छोड़ता है—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय…'। 'जीव' प्राणके अर्थमें भी आता है।

टिप्पणी-२ *'जिअइ मरइ भल भूपति जाना'''*, यथा—(क) *'जिअन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥ जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥'* (१२६—२) अर्थात् उनके दोनों बने। और मेरा हृदय सैकड़ों वज्रके समान कठोर है कि प्राण न निकले, छाती न फटी। (ख) *'मोहिं न लाजु'''''* इति। *'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे'* ऐसे कठिन हृदय और शरीरवाले राजा तो वियोग न सह सके और जिसने रात-दिन गोदमें खिलाया वह जीती रही! यह लज्जाकी बात है। उन्होंने तो पिताका भाव निबाह दिया पर मुझसे माताके भावका निर्वाह न हुआ।

नोट—२ *'राम सरिस सुत मैं महतारी', 'मोर हृदय सत कुलिस समाना'* इति। ये वचन आत्मग्लानिके हैं। इसी तरह मानसमें श्रीदशरथजी, श्रीसुमन्त्रजी तथा श्रीभरतजीके वचन हैं। गीतावलीके श्रीकौसल्याजीके वचनोंसे मिलान कीजिये—*'हाथ मींजिबो हाथ रह्यो। लगी न संग चित्रकूट ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥ पति सुरपुर सिय राम लखन बन मुनिब्रत भरत गह्यो। हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो। मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो। तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत क्यों कछु परत कह्यो॥' 'जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्हकी महतारी॥'* (२। ८४—८५) यह चित्रकूटसे लौटनेपर कहा है, पर भाव वही है।

नोट-३ *'कौसल्याके बचन सुनि'''''*, यथा—*'कौसल्याके बिरह बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी। तुलसिदास रघुबीर बिरहकी पीर न जाति बखानी॥'* (गी० ५३)

**बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिए हृदयँ लगाई॥ १॥**
**भाँति अनेक भरतु समुझाए। कहि बिबेकमय बचन सुनाए॥ २॥**
**भरतहु मातु सकल समुझाईं। कहि पुरान श्रुति कथा सुहाईं॥ ३॥**
**छल बिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी॥ ४॥**

अर्थ—श्रीभरत-शत्रुघ्न दोनों भाई व्याकुल होकर बिलख-बिलखकर रो रहे हैं, कौसल्याजीने उनको हृदयसे लगा लिया॥ १॥ अनेकों प्रकारसे भरतजीको समझाया और विवेकमय वचन कहकर सुनाये॥ २॥ भरतजीने भी सब माताओंको वेद-पुराणकी सुन्दर कथाएँ कहकर समझाया॥ ३॥ दोनों हाथ जोड़कर भरतजी छलरहित, पवित्र, सीधी-सादी सुन्दर वाणी बोले॥ ४॥

वि० त्रि०—*'भाँति अनेक'''सुनाए'* इति। यथा—*'पुत्र जन्म पितु मातु गति, हेतु होत जग जान। याते सुत पितु हेतु जनि, सोच करहु मतिमान॥ यथा दारु द्वै सरित बिच बहत कबहुँ मिलि जात। तथा मिलन जग जीवको नहि अचरज बिलगात॥ चौदह वर्ष बितातु पुनि ऐहैं रघुकुल केतु। भावी प्रबल न सकइ मिटि, जनि सोचहु तेहि हेतु॥ दुख सुख फल निज कर्मके, टारि सकै नहिं कोय। याते धरि धीरज सहित, जो कछु होनी होय॥'*

वि० त्रि० २—*'भरतहु मातु'''सुहाईं'* इति। *'बड़े बड़े संकट सहत, सहि न सकत सो छोट। काँच सकै नहिं, सहि सकै हीरक घनकी चोट॥ पति दुख सुत दुख राज दुख निज दुख शैव्या रानि। सह्यौ कह्यौ काहुहि न कछु धर्म मर्म पहिचानि॥ एहि असार संसार महँ, पग पग कठिन कलेस। ईश भजन बिनु अम्ब सुनु, कतहुँ नाहिं सुखलेस॥ जहँ संयोग बियोग तहँ, कोउ सकै नहिं टारि। सब प्रकार ममता तजै बुध अस हिय निरधारि॥ सपनो सो अपनो न कछु झूठो जग ब्यवहार। भजिय राम सब काम तजि अम्ब इहै जगसार॥'*

नोट—१ *'कहि बिबेकमय बचन'* इति। इनको प्रभुका दिया हुआ अलौकिक ज्ञान है, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१। १५१। ३) अतएव इनका भरतको समझाना कहा। और भरतजीने अन्य सब माताओंको समझाया। *'मातु सकल'* से कौसल्या और सुमित्राजीको छोड़ सबका तात्पर्य है। (कैकेयी तो यहाँ है नहीं और न उससे कुछ इन्हें सरोकार है।) *'बिबेकमय'*, यथा—*'हानि*

*लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।'* (१७१) *'जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा। काल करम बस होहिं गोसाईं॥'* (१५०। ५। ६) सुख-दु:ख आगमापायी हैं। यहाँकी सब उलटी रीति है। संसार वृक्षके समान है, जिसकी जड़ ऊपर और डालें नीचे हैं। सब नश्वर हैं, जीव नित्य हैं। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतारकर नये पहनते हैं, वैसे ही जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करते हैं''''इत्यादि। सुमित्राजीने लक्ष्मणजीको धर्मोपदेश दिया, कौसल्याजीने भरतजीको ज्ञानोपदेश दिया। (शीला)

नोट—२ 'छल विहीन' हैं। अर्थात् माताकी करनीमें इनका सम्मत नहीं है कि भीतर कुछ हो बाहर दिखानेको कुछ। इसीसे शुचि भी हैं।

**जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥ ५॥**
**जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हे॥ ६॥**
**जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥ ७॥**
**ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥ ८॥**

शब्दार्थ—**गाइ गोठ**=गो-गोष्ठ=गोशाला=गोस्थान, खरिक। **माहुर**=विष। **पातक**=बड़े पाप। **उपपातक**=छोटे पाप। मनुके अनुसार परस्त्रीगमन, गुरु-सेवात्याग, आत्मविक्रय, गोवध आदि उपपातक हैं। (श० स०) विशेष नोटमें देखिये। भव=उत्पन्न—भव, प्रभव, सम्भव—ये सब उत्पत्तिवाचक हैं। **मत**=सलाह, सम्मत।

अर्थ—जो पाप माता, पिता और पुत्रको मारनेसे, गोशाला और ब्राह्मणोंका नगर जलानेसे होते हैं॥ ५॥ जो पाप स्त्री और बालकका वध करनेसे तथा मित्र और राजाको विष देनेसे होते हैं॥ ६॥ मन, कर्म और वचनसे उत्पन्न (अर्थात् इनसे होनेवाले) जितने भी बड़े और छोटे पाप हैं, जिन्हें कवियोंने कहा है॥ ७॥ हे विधाता! यदि रामवनगमनमें मेरा सम्मत हो, तो हे माता! वे सब पाप मुझे लगें॥ ८॥

प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्ल—कौसल्याके सामने जिन वाक्योंद्वारा भरतजी अपनी सफाई दे रहे हैं, उनके एक-एक शब्दसे अन्त:करणकी स्वच्छता झलकती है। उनकी शपथ उनकी अन्तर्वेदनाकी व्यञ्जना है। इस सफाईके सामने हजारों वकीलोंकी सफाई कुछ नहीं है, इन कसमोंके सामने लाखों कसमें कुछ भी नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है, जिसकी पवित्रताको देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।

नोट—१ *'जे अघ मातु पिता''''* इति। (क) माता-पिताका ऋण पुत्रपर रहता है। पुत्रके लिये वे पूज्य हैं। पुत्रका भरण-पोषण माता-पिताका कर्त्तव्य है। पुत्र उत्पन्न होनेपर उसको मार डालनेका अधिकार उनको नहीं है। गऊद्वारा यज्ञादि धर्मका निर्वाह होता है। ब्राह्मणोंद्वारा धर्मका प्रचार होता है। स्त्री और बालक अवध्य हैं। मित्रको प्रतीति है कि छल न होगा। राजाका नौकरपर भरोसा है। अतएव इनके मारनेका बड़ा भारी पाप है। (ख) *'महीपति'* का भाव कि वह सारी पृथ्वीका धर्म और न्यायपूर्वक शासन करता है, प्रजाका पुत्रके समान पालन करता है। (ग) मिलान कीजिये—'**राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते। भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम्॥**' (वाल्मी० ७५। ३७)

नोट—२ इस प्रकार शपथ करके सफाई देनेकी रीति ऋषियों, भक्तों आदिमें प्राचीन कालमें पायी जाती है। प० पु० सृष्टिखण्डमें इसी तरह श्रीवसिष्ठादि सप्तर्षियोंने शपथें की हैं। शपथोंद्वारा धर्मकी बातें तथा किन-किन पापोंसे बचना चाहिये—ये बातें उन्होंने बतायी हैं। इसी तरह सृष्टिखण्डमें ही नन्दाने शपथें की हैं कि यदि मैं पुन: लौटकर न आऊँ तो मुझे वही पाप लगे, जो ब्राह्मण और माता-पिताका वध करनेसे होता है, जो व्याधों, म्लेच्छों और विष देनेवालोंको होता है, जो गोशालामें विघ्न डालने, सोते हुए प्राणीको मारने, अपनी कन्याका दुबारा कन्यादान करने, अयोग्य बैलोंसे भारी बोझ उठवाने, कथामें विघ्न डालने, घरपर आये हुए मित्रको निराश लौटा देनेवालोंको होते हैं।

वाल्मीकीयमें भी भरतजीने बहुत शपथें की हैं। सर्ग ७५ श्लोक २१ से लेकर ५८ तक शपथें दी

हैं। संक्षेपसे उसको यहाँ लिखा जाता है, क्योंकि इसमें धर्मका उपदेश भरा हुआ है।—जिसकी सम्मतिसे श्रीरामजी वन गये हों उसकी बुद्धि शास्त्रका अनुगमन न करे (श्लोक २१); वह नीचका दास हो, सूर्यके सामने लघुशंका करे, सोई हुई गौको पैरसे मारे (२२); भृत्यसे बहुत बड़ा काम कराके कुछ न दे(२३); प्रजा-वत्सल नृपसे विद्रोह करे, (२४); राजा होकर प्रजासे कर लेकर उसकी रक्षा न करे (२५); यज्ञमें तपस्वियोंसे दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके न दे (२६); युद्धमें सज्जनोंके धर्मका पालन न करे, गुरुद्वारा उपदिष्ट शास्त्र भूल जाय (२७-२८); अनिवेदित भोजन करे, गुरुजनोंका तिरस्कार करे (३०); गौओंको पैरसे छुए, गुरुकी निन्दा करे, मित्रोंसे द्रोह करे (३१); विश्वासघात करे (३२); अकृतज्ञ, समाजद्वारा परित्यक्त, निर्लज्ज और लोकमें निंदित हो (३३); पुत्रसेवक आदिकोंको बिना खिलाये उत्तम भोजन करे (३४); पुत्रहीन तथा धार्मिक क्रियाओंका फल पाये बिना मरे (३५); पूरी आयु न पाकर मरे (३६); लाख, मधु, मांस, लोहा और विषके बेचनेसे जो धन प्राप्त हो उससे पुत्रादिका पालन करे (३७-३८); रणमें भागता हुआ शत्रुद्वारा मारा जाय (३९); हाथमें खप्पर लेकर चीथड़ा पहनकर उन्मत्तके समान घूमकर भीख माँगे (४०); शराबी, परस्त्रीगामी, जुआरी, कामी और क्रोधी हो जाय (४१); अधर्मकी सेवा करे, अपात्रको दान दे, धर्ममें उसका मन न लगे (४२); देवताओं, माता-पिता और पितरोंकी सेवा न कर सके (४६); सज्जनोंके लोककीर्ति और कर्मसे भ्रष्ट हो जाय; माताकी सेवा छोड़कर बुरे मार्गमें प्रवृत्त हो; दरिद्र होकर बहुसंतानवाला और निरन्तर ज्वरपीड़ित रहे; दीन होकर दातासे मनोरथ सुनानेपर भी दाता उसकी आशा व्यर्थ कर दे; राजासे भीत होकर छलद्वारा अपना जीवन बितावे; ऋतुस्नाता सती स्त्रीकी प्रार्थना न माने (४६—५२); ब्राह्मण होकर अपने बच्चोंको भोजन न देकर मार डाले (५३); ब्राह्मणको दी जाती हुई पूजा रोके और बालवत्सा गौको दुहे (५४); धर्मपत्नीका त्याग करे और परदारासे अनुराग करे। (५५) (भाव यह कि ये सब कर्म पाप हैं, इनसे परलोक बिगड़ता है। जो इन पापोंका फल होता है वह हमको मिले, यदि हमारा इसमें सम्मत हो।) जो पाप राजा, स्त्री, बालक और वृद्धके वधसे, दासका त्याग करनेसे; सन्ध्या तथा प्रातः दोनों सन्ध्याओंमें सोनेसे; आग लगाने, गुरुस्त्रीगामी और मित्रद्रोही होनेसे; पीनेवाले जलमें विष मिलाने एवं विष देनेसे, जल रहनेपर भी उसे प्याससे छिपा देनेसे; वादी-प्रतिवादीमेंसे एकके पक्षपातसे उसीके लाभका निर्णय करनेसे होते हैं वे सब उसको लगें। उसका सारा सञ्चित धन चोरी चला जाय।

अ० रा० की कौसल्याजीने भरतको दोष नहीं दिया है, इसीसे उसमें एक ही श्लोकमें शपथ है—'**पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम्। हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम्॥**' (२। ७। ८९) अर्थात् मुझे सौ ब्रह्महत्याओंका पाप लगे, अथवा अरुन्धतीसहित गुरु वसिष्ठको खड्गसे मारनेसे जो पाप होता है वह लगे, यदि मैं जानता हूँ वा मेरी सम्मति हो।

नोट—३ *'जे पातक उपपातक······'* इति। पाप स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म तीन प्रकारके होते हैं। जो स्थूल पाप नरककी प्राप्ति करानेवाले हैं, उनका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंके द्वारा होता है। इन तीनोंके भी चार-चार भेद हैं। इस प्रकार मन, कर्म और वचनसे होनेवाले बारह पाप हैं। फिर इनके भी अनेक भेद हैं। स्कन्दपुराण मा० कु० खण्ड अ० ३६ में महापातकों और उपपातकोंका विस्तृत उल्लेख है। गोशालामें आग लगाना भी महापातक है। अहंकार,पाखण्ड, कृतघ्नता, ईर्ष्या, बिना अपराधके पुत्र, मित्र, पत्नी,स्वामी, सेवकका परित्याग करना; साधु, बन्धु, तपस्वी, गाय, क्षत्रिय, वैश्य,स्त्री और शूद्रोंको मारना-पीटना; यज्ञ, पोखरा और सन्तानको बेचना, पुण्योंका विक्रय करना, ऋण न चुकाना, झूठ बोलकर जीविका चलाना, विष तथा मारणयन्त्रोंका प्रयोग करना, उच्चाटन एवं अभिचारकर्म करना, स्वीकार किये हुए व्रतका परित्याग, असत्शास्त्रोंपर चलना, सूखे तर्कका सहारा लेना; देवता, साधु, गुरु, अग्नि,गौ, ब्राह्मण, राजाकी निन्दा करना—ये सब उपपातक हैं। इनकी अपेक्षा जो कुछ न्यून श्रेणीके पापोंसे युक्त हैं वे पापी कहलाते हैं। इस तरह महापातक, उपपातक और सामान्य पातक—ये तीन प्रकारके पाप कहे गये हैं।

नोट—४ *'करम बचन मन भव कबि कहहीं'* इति। (क) श्रीरामजीने भी इन तीन प्रकारके पापोंका होना कहा है। यथा—**'कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्। अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥'** (वाल्मी० २। १०९। २१) अर्थात् 'मनुष्य मनमें पाप करनेका विचार करता है, फिर उस पापकर्मका कर्तव्य समझकर जिह्वासे कहता है, तदनन्तर शरीरसे करता है। अतएव पापकर्म तीन प्रकारके हैं। (ख) *'कबि कहहीं'*—मनुजी, याज्ञवल्क्यजी, शुक्रजी आदि कवियों (विद्वानों, सर्वज्ञ पण्डितों) ने स्मृतियोंमें कहे हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्यायमें पातक और उपपातकोंका उल्लेख इस प्रकार है—

**'सखिभार्य्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च। सगोत्रासुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम्॥ २३१॥ पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि। मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्य्यतनयां तथा॥ २३२॥ आचार्यपत्नीं तनयां गच्छन्तु गुरुतल्पगः। लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि॥ २३३॥ तथा च उपपातकानि कथ्यते। गोवधो व्रात्यतास्तेयमृणानाञ्चानपक्रिया। अनाहिताग्नितापण्यविक्रयः परिवेदनम्॥ २३४॥ भृताद‍ध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा। पारदार्य्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया॥ २३५॥' स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम्। नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः॥ २३६॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम्। पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः॥ २३७॥ कन्यासंदूषणं चैव परिविन्दकयाजनम्। कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम्॥ २३८॥ आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम्। स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च॥ २३९॥ इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधिजीवनम्। हिंस्त्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः॥ २४०॥ शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणम्। तथैवानाश्रमे वासः परान्नपरिपुष्टता॥ २४१॥ असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता। भार्य्याया विक्रयश्चैवमेकैकमुपपातकम्।'**

अर्थ यह है—सखी, मित्रकी स्त्री और उत्तम जातिकी कन्या, भगिनी, चाण्डाली, सगोत्रा, पुत्रवधू (२३१); पिताकी बहिन, मौसी, मामी और स्नुषा (भाईके पुत्रों आदिकी वधू), विमाता, बहिन, आचार्यकन्या, आचार्यपत्नी, अपनी बेटी······इनके साथ व्यभिचार करनेवाले गुरुतल्पगामीके समान महापातकी हैं, क्योंकि ये सब गुरुपत्नीके समान हैं। (२३२-३) गोवध, समयपर उपनयन न करना, चोरी, देव-ऋषि-पितरके ऋणोंको न चुकाना, अधिकार होनेपर अग्निहोत्रादि न करना, नमक बेचना, जेठेके पहले ही छोटेका विवाह करना, वेतन निश्चित कराके पढ़ाना अथवा ऐसे गुरुसे पढ़ना, व्यभिचार, छोटेका विवाह होनेपर बड़ेका अविवाहित रहना, सूद लेना, नमक बनाना, स्त्री, शूद्र और वैश्यका वध, कुमार्गसे जीवन चलाना, नास्तिकता, व्रतलोप, बच्चोंका बेचना, धान्य, सीसा आदि और पशुकी चोरी, अनधिकारीसे यज्ञ करवाना, माता-पिता-पुत्रका त्याग, तालाब और बागीचाका बेचना, कन्यासन्दूषण, परिविन्दकको लड़की देना वा उससे यज्ञ कराना, अपने ही लिये रसोई करना, मद्यपकी स्त्रीसे आसक्ति, स्वाध्याय, अग्नि और पुत्र तथा बान्धवका त्याग, लकड़ीके वास्ते पेड़ काटना, स्त्री-हिंसा और औषधिसे जीविका चलाना, घातक यन्त्र बनाना, व्यसन, अपनेको बेचना, शूद्रकी नौकरी, नीचसे सख्य करना, अनाश्रमी रहना, परान्नपर रहना, असत् शास्त्र पढ़ना, खानमें नौकरी करना, स्त्रीको बेचना—ये सब एक-एक स्वतन्त्र उपपातक हैं।

वस्तुतः महापातकी चार हैं और उनका साथी भी महापातकी कहा गया है। यथा—**'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्॥'** (२२७) शेष सब इन्हीं चारकी शाखाएँ हैं।

मिलान करें—*'सुर गुरु द्विज पातक परैं जो जानत यह बात। बाल बालबध अघ अयश गायगोठ पुरघात॥ गायगोठ पुरघात मीत नृप माहुर दीन्हें। परधन परतिय हानि परैं अघ गोबध कीन्हें॥ गोबध निंदा बेदकी पर अपकारी अघ करैं। जो जननी जानहुँ तनक सुर गुरु द्विज पातक परैं॥'*

## दो०—जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
## तिन्ह* कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥ १६७॥

* तेहिं—(राजापुर)। 'जे' बहुवचनके सम्बन्धसे 'तिन्ह' पाठ ही समीचीन है, जो प्रायः सभी अन्य पोथियोंमें है।

**बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥ १॥**
**कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥ २॥**
**लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥ ३॥**
**पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी एहु संमत मोरा॥ ४॥**

शब्दार्थ—'**बेचहिं बेदु**'—द्रव्यके लोभसे पात्र-अपात्रका विचार न करके अनधिकारीको वेद पढ़ाना या सुनाना। वा, वेद-पुराणादि पारायण, स्तोत्रपाठ-पूजा, केवल द्रव्यहेतु करना। (बैजनाथ) ***'धरमु दुहि लेहीं'***=धर्मको दुह लेते हैं। धर्म अर्थात् सत्य, शौच, दया और दान आदि जो कुछ करते हैं, वह सब कुछ लौकिक प्रयोजन साधनके लिये (जैसे रुपया लेकर सच्ची गवाही दें; कन्याका ब्याह रुपयेकी लालचसे कर दें; रुपया देकर लड़की खरीदना, इत्यादि)। (वै०) वा, धर्मके बदले लोकसुख माँगना, जो धर्म परलोक-साधक है उससे जीविका करना, जैसे योगक्रियाएँ दिखाकर मेलेमें पैसा कमाते हैं, यह धर्म दुहना है। (शीला) यथा—*'सुगति साधन भई उदर भरनि।'* (वि० १८४) शय्यादान एवं वृषोत्सर्गदान जो लेते हैं उनका धर्म नहीं रह जाता, बावली, तालाब, देवस्थान बेचते हैं, इत्यादि कर्मोंसे आगेके लिये जो धर्म उपार्जन किया था वह भी दुह लिया—(पं०, पु० रा० कु०) '**पिसुन**' (पिशुन)=चुगलखोर, इधर-की-उधर लगानेवाला। '**कलह**'=झगड़ा। '**बिदूषक**'=हँसी उड़ाने, निन्दा करनेवाले। '**लोलुप चारा**=चञ्चल आचरण करनेवाला यथा—'**लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि चेति यादवः।**'

अर्थ—जो लोग हरिहरचरण छोड़कर घोर भूत-प्रेतोंको भजते हैं, हे माता! विधाता मुझे उनकी गति दें, यदि इसमें मेरा सम्मत हो॥ १६७॥ जो लोग वेदोंको बेचते हैं, धर्मको दुह लेते हैं, चुगलखोर हैं, पराये पापोंको कह डालते हैं॥ १॥ जो कपटी, कुटिल, झगड़ालू (एवं जिनको झगड़ा करना, कराना प्रिय है), क्रोधी, वेदोंकी निन्दा वा परिहास करनेवाले, संसारभरके विरोधी (शत्रु)॥ २॥ और लालची एवं कामियों (व्यभिचारियों) के चञ्चल आचरणवाले हैं; जो पराये धन और परायी स्त्रीकी ताकमें रहते हैं॥ ३॥ हे माता! मैं उनकी भयङ्कर गति पाऊँ जो यह मेरा सम्मत हो॥ ४॥

नोट—१ *'भजहिं भूतगन घोर। तिन्ह कइ गति·····'* इति। भज् सेवायां धातु है। भाव कि हरि और हर भजने योग्य हैं। इनको नहीं भजते किन्तु इन्हें छोड़कर भूत, पिशाच, बेताल, कूष्माण्ड, डाकिनी, यक्षिणी आदि दारुण तामसी जीवोंको तामसी हिंसायुक्त पूजा करते हैं। जो जिसको भजता है उसको प्राप्त होता है। यथा—'**यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥**' (गीता अ० ९ श्लो० २५)

तिलक महाराज इसका सारांश यों लिखते हैं—'यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है तथापि उपासनाका फल प्रत्येकके भावके अनुरूप न्यून-अधिक योग्यताका मिला करता है। फिर भी इस पूर्व कथनको भूल न जाना चाहिये कि फलदानका कार्य देवता नहीं करते—परमेश्वर ही करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य महाराजजी लिखते हैं कि 'व्रत' शब्द संकल्पवाचक है। श्लोकका अर्थ है कि 'जो इन्द्रादि देवताओंके पूजनविषयक संकल्पवाले हैं वे इन्द्रादिको, जो पितृपूजनविषयक संकल्पवाले हैं वे पितरोंको और जो यक्ष, राक्षस, पिशाचादि प्राणियोंके पूजनविषयक संकल्पवाले हैं वे भूतोंको प्राप्त होते हैं। यही आशय छान्दोग्योपनिषद् अ० ३ खण्ड १४ की '**इति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥**' (१)। इस श्रुतिका है। अर्थात् इस प्रकार शान्त होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही निश्चयात्मक है, इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है। पुनः, महाभारत (शान्तिपर्व ३५२। ३) में भी कहा है '**यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्। स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम॥**' जो पुरुष जिस भावमें निश्चय रखता है, बस, उस भावके अनुरूप ही फल पाता है। और श्रुति भी कहती है '**यं यथा यथोपासते तदेव भवति**'।—*'तुलसी*

*परिहरि हरिहरहिं पाँवर पूजहिं भूत। अंत फजीहति होहिंगे गनिका केसे पूत।'* (दो० ६५) वेश्यापुत्र किसको बाप बतावे, उसके होनेपर बधाई भी नहीं होती।

नोट—२ (क) *'बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं'* के भाव शब्दार्थमें दिये गये हैं। (ख) *'पिसुन पराय पाप कहि देहीं'*—चुगली करना, दूसरेके पापोंको प्रकट करना, दूसरोंसे कहना भी वाचिक महापातक है। यथा—'**परापवादं पैशुन्यं चतुर्था कर्म वाचिकम्।**' (स्कन्दपु० मा० कु० ३६। १९) *'अघ कि पिसुनता सम कछु आना।'* (७। ११२। १०) (ग) *'पिसुन पराय पाप कहि देहीं'*। का दूसरा गुप्तार्थ यह भी है—'कहकर दूसरेको भी दे देते हैं' अर्थात् स्वयं पापके भागी तो हुए ही, दूसरेको सुनाकर उसे भी पापका भागी कर लेते हैं। (पं० रा० कु०) यथा—'**महापातकिनस्त्वेते तत्संसर्गी च पञ्चमः।**' (स्कन्दपु० मा० कु० ३६। २८) (घ) *'बेद बिदूषक'* का फल, यथा—*'सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी।'* (७। १२१। २५) *'बिदूषक'*=विशेष दूषण निकालनेवाले। जैसे तर्क करते हैं कि *'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना'* इत्यादि कैसे सम्भव है। ऐसे पापका फल है—*'कलप कलप भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।'* (७। १००।४) (पं० रा० कु०) (ङ) *'लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं……'* इति। यहाँ *'लोलुपचारा'* विशेषण है। यथासंख्य अलंकारसे *'लोभी जे ताकहिं परधनु'* और लम्पट *'जे ताकहिं परदारा'* के लिये आये हैं। *'ताकहिं'* का भाव कि घात देखते हैं, कब मौका मिले कि हम हर लें, यथा—*'जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।'* (१२। ४) (पु० रा० कु०) (च) *'गति घोरा'* से जनाया कि सब महापातकी हैं। ऐसे पापियोंकी भयङ्कर गति होती है।

**जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥ ५॥**
**जे न भजहिं हरि नर तनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सुहाई॥ ६॥**
**तजि श्रुतिपंथु बाम पथु चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥ ७॥**
**तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं एहु जानउँ भेऊ॥ ८॥**

शब्दार्थ—भेऊ=भेद। *'परमारथ पथ'*—जिस धर्मसे परलोक बने वही परमार्थ मार्ग है भगवत्प्राप्ति जिससे हो; क्योंकि *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'*; उनका यश गाये, कीर्तन करे, कथा कहे-सुने, मन, तन, धन सब उनमें लगावे, यथा—*'कहिये को रसना रची सुनिबे कहँ किय कान। धरिबे को हित चित सहित परमारथहि सुजान।'* 'वाममार्ग' अर्थात् जिस मार्गमें पञ्च मकार प्रधान हैं—मांस, मत्स्य, मद्य, मैथुन और मुद्रा। तन्त्रग्रन्थोंमें इस मार्गका वर्णन है। (गौड़जी) '**बंचक—वेष**', यथा—'**अन्तः शाक्ताः बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नाना वेषधराः कौला विचरन्ति महीतले॥**' इत्यादि। (वै०)

अर्थ—जिनका साधुसङ्गतिमें प्रेम नहीं है, जो अभागे परमार्थ-मार्गसे विमुख हैं॥ ५॥ जो मनुष्य-शरीर पाकर भगवान्का भजन नहीं करते, जिनको हरिहरका सुन्दर यश नहीं सुहाता (अच्छा लगता)॥ ६॥ जो वेदमार्गको छोड़कर वाममार्गपर चलते हैं, जो ठग हैं, सुन्दर वेष अच्छी तरह रचकर जगत्को ठगते हैं॥ ७॥ हे माता! मुझे शङ्करजी उनकी गति देवें यदि मैं इसका भेद जानता होऊँ॥ ८॥

श्रीमन्त शङ्करयादव जामदारजी—'अध्यात्मके अनुसार वसिष्ठ-हत्याकी शपथ लेकर ही भरतजी मुक्त हुए, परंतु वाल्मीकिरामायणमें उन्होंने अनेक प्रकारकी शपथें ली हैं। कुछ उनमेंसे चुनकर स्वामीजीने उनमें अपनी ओरसे भी मिला दी हैं। जान पड़ता है कि इन चौपाइयोंका शपथ-वर्णन गोसाईंजीने तत्कालीन पातकोंकी स्थिति देखकर किया है।'

टिप्पणी—१ *'जे नहिं साधु संग अनुरागे।……'* इति। साधुसङ्ग करनेसे विकार दूर होते हैं, शुभ गुणोंका उदय होता है, निज और पर स्वरूपका बोध होता है; तब परमार्थ-पथपर चलकर मनुष्य भवसागर पार होता है। यथा—*'जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरसपरस-समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुण भए। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गए॥*

*सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुबीरचरन लय लागै॥ देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥ छन्द॥ अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निरमल निरामय एकरस तेहि हरष-सोक न ब्यापई। त्रैलोक-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥ जो तेहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥ जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै*''''(वि० १३६। ११-१२) पर इनने सत्सङ्ग न किया, अतएव परमार्थ-पथसे विमुख कहा—'*संतसंग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।*' परमार्थसे विमुख हैं, अतएव अभागे हैं।

टिप्पणी—२ '*जे न भजहिं हरि नर तन पाई।*''''' इति। (क) '*पाई*' से जनाया कि नरशरीर प्रभुकी कृपासे मिलता है, यथा—'*कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।*' (७। ४४। ६) नरतन पाकर परलोक बनाना चाहिये, ऐसा न करनेका फल यह कहा गया है '*साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।*' (७। ४३) और '*सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥*' (७। ४४) (ख) '*जे न भजहिं*''''' कहकर '*जिन्हहि न हरिहर सुजस सुहाई*' कहनेका भाव यह कि यदि नवधा भक्ति आदि भजन न बन पड़े तो भगवत्-भागवत-यश ही सुने। पर इन्हें यह भी नहीं सुहाता, अतः ये आत्मघाती हैं, यथा—'*ते जड़ जीव निजातम घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सुहाती॥*' (७। ५३। ६) यह कहकर तब '*श्रुतिपंथ*' का त्याग कहा, क्योंकि जिन्हें संतसङ्ग, हरि-भजन, हरि-हर कथा न भावे, वे अवश्य वेदपथको छोड़कर वाममार्गी होंगे।[अथवा, भाव कि प्रथम कार्य कहकर तब उसका कारण '*तजि श्रुति पंथ*' कहा। श्रुतिमार्गपर आरूढ़ होनेसे विषयोंसे वैराग्य होता है, जिससे भगवद्धर्ममें अनुराग होता है, उससे फिर हरिभक्ति होती है। यथा—'*निज निज कर्म निरत श्रुति रीती। एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ संत चरन-पंकज अति प्रेमा।*' (३-१६-६-९)। जिस श्रुतिसेतुके संरक्षणके लिये भगवान्‌का अवतार होता है उसीको छोड़कर प्रतिकूल मार्गमें चलते हैं। अतः वे महापातकी हैं। (प० प० प्र०) (ग) '*बाम-पंथ*' में तन्त्र शास्त्रके वाममार्गके अतिरिक्त अन्य पाखण्ड-मत भी आ गये। '**वामं धने हरे पुंसि कामदेवे पयोधरे। लोकविपरीतत्वाद्वा वामः** (इति अमरव्याख्यासुधायाम्) '**बामे सत्ये प्रतीपे च।**' (इति विश्वः) प्रतीप=विरुद्ध। अतः वामपथ=वेद=विरुद्ध मार्ग। '*मारग सोइ जा कहँ जो भावा*' यह भी वाममार्ग ही है। तन्त्र-शास्त्रानुसार पाँच मार्ग मुख्य हैं—पूर्व, पश्चिम, वाम, दक्षिण और मध्यम। ये कुण्डलिनीके ऊर्ध्वगमनपंथसूचक नाम हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ '*बंचक बिरचि बेष*''''' ' भाव यह कि जिसमें कोई यह न जाने कि इनके आचरण वेदविरुद्ध हैं। साधु आदिका वेष बनाते हैं, जिसमें लोग समझें कि महात्मा हैं, ये जो कुछ कहें-करेंगे, वेदानुकूल ही करेंगे, इस तरह जनता उनके छलमें आ जाती है।

नोट १—'*तिन्हकर गति मोहिं संकर देऊ*' इति।—पूर्व कहते आये कि विधाता ऐसे-ऐसे अधर्मियोंकी गति हमें दें, यथा—'*ते पातक मोहि होहु बिधाता*', '*तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि*', '*पावउँ मैं तिन्ह कै गति घोरा*' पर यहाँ कहते हैं—'*तिन्ह कै गति मोहिं संकर देऊ*'। पुनः, पूर्व तीनमें कहा कि यदि हमारा सम्मत हो, यथा—'*जों एहु होइ मोर मत माता*', '*जौं जननी मत मोर*', '*जौं जननी एहु संमत मोरा*' और यहाँ कहते हैं कि '*जननी जौं एहु जानउँ भेऊ*'। यह क्यों? किस अभिप्रायसे? पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व तीन बार माँके मतमें अपना सम्मत होनेका निषेध शपथद्वारा किया। पर इसमें संदेह हो सकता था कि तुम्हारी सलाह न रही हो, तुम सहमत न हुए हो, पर तुम जानते अवश्य थे और मातासे विरोधके कारण ननिहालमें रहे। इस संदेहको भी निर्मूल करनेके लिये यह शपथ खायी कि यदि मैं इस भेदको जानता होऊँ तो मेरी ऐसी दुर्गति हो।

अब रहा दूसरा प्रश्न कि यहाँ 'शंकरजी' को क्यों कहा?

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि शंकर संहारकर्त्ता हैं, विधि उत्पत्तिकर्त्ता हैं। पंडितजीका आशय यह

जान पड़ता है कि शंकरजी संहारकर्त्ता होनेसे दण्ड देनेमें रियायत न करेंगे। दूसरे इसमें वेदमार्गको तोड़नेवालों हरिहर-विमुखों आदिकी चर्चा है और शंकरजी परम भक्त हैं, वे धर्मके विरोधियोंको कड़ा दण्ड देते हैं, जैसे भुशुण्डिजीको दिया, यथा—*'तदपि साप सठ देइहउँ तोही। नीति बिरोध सुहाइ न मोही। जो नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥'* (७। १०७) अथवा 'शंकर' हैं, कल्याणकर्ता हैं। जो इनसे वैर करे, उसका कल्याण नहीं। हरिहर-सुयश जिसको अच्छा न लगे,जो वेदमार्गको तोड़े, उसका अकल्याण इनसे बढ़कर करनेवाला नहीं। पुन:, कल्याण और साक्षी एवं मनोरथकी पूर्तिके लिये श्रीकौसल्याजी, स्वयं भरतजी, श्रीवसिष्ठजी एवं श्रीरामजीने शंकरजीका ही जहाँ-तहाँ स्मरण किया है। इनकी साक्षी सबसे अधिक अवश्य मानते हैं, तभी इनका नाम साक्षीमें अपनी बातको प्रमाणित करनेके लिये लिया गया है, यथा—*'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाए। संकर साखि रहेउँ एहि धाए॥'* (२६२। ५) (भरतवाक्य), *'मेरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'* (२५८। ८) (श्रीवसिष्ठवाक्य), *'कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥'* (२६४। १) (श्रीरामवाक्य) वैसे ही यहाँ भी भरतजी अपनी सफाईके लिये अन्तमें इन्हींकी साक्षी दे रहे हैं।

नोट—२ प० प० प्र० का मत है कि *'जननी जौं यहु जानौं भेऊ'* का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—*'जौं यहु जननी भेऊ जानौं'* जो मैं अपने जन्म देनेवालीका यह भेद जानता होऊँ। क्योंकि कौसल्याजी उनकी जननी नहीं हैं और कैकेयीको उन्होंने जननी कहा है, यथा—*'जननी तू जननी भई'।* कौसल्याजी माता हैं।

**दो०—मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभायँ।**
**कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन कायँ॥१६८॥**

**राम प्रानहु* तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥१॥**
**बिधु बिष चवै श्रवइ हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥२॥**
**भए ग्यानु बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥३॥**

शब्दार्थ—**कायँ**=शरीर। **चवै**=टपकावे। **श्रवइ**=गिरावे। बिरागी=उदासीन, राग-प्रेम इच्छा वा चाह न रखनेवाला, विमुख।

अर्थ—भरतजीके सच्चे और स्वाभाविक ही सरल (सीधे-सादे छलरहित) वचन सुनकर माता कौसल्या कहती हैं—हे तात! तुम सदा मन-वचन-तनसे रामचन्द्रजीको प्रिय हो॥ १६८॥ रामचन्द्रजीके प्राणसे तुम्हारे प्राण हैं (अर्थात् राम तुम्हारे प्राणोंके भी प्राण हैं) और तुम भी रघुपति-(राम-) को प्राणोंसे अधिक प्रिय हो॥ १॥ चाहे चन्द्रमा विष टपकावे, पाला अग्नि गिरावे† चाहे जलचर (मछली) जलसे प्रेम छोड़ दे॥ २॥ और ज्ञान होनेपर भी मोह भले ही न मिटे अर्थात् ये सब अनहोनी बातें चाहे भले ही हो जायँ, पर तुम रामजीके प्रतिकूल (कदापि) नहीं होनेके॥ ३॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'सदा बचन मन कायँ'* इति।—मन-वचन-कर्म तीनोंसे प्रियके उदाहरण, यथा—*'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥ 'लषन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥ 'जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा॥'* (२०८। ३—५)

टिप्पणी—२ *'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।.....'* इति। अर्थात् जैसे प्राण बिना शरीर मृतक वैसे ही राम-बिना तुम्हारी गति। पर ऐसा तो सभी जीवोंके लिये है। यथा—*'प्रान प्रानके जीवन जीके।'* भरतजीके

* यह पाठ राजापुरकी पोथीका है। काशिराजकी रामायण परिचर्यामें भी यही पाठ दिया है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'इसमें संदेह न करो ऐसी भी चौपाई होती है।' परन्तु इस पाठमें अक्षर अधिक होनेसे छन्दकी गतिमें अन्तर पड़ता है। इसीसे प्राय: लोगोंने 'हु' अक्षर उड़ा दिया है। इस अर्धालीमें 'उपमेयोपमा' अलङ्कार है। और भी स्थानोंमें ऐसा प्रयोग हुआ है।

† दूसरा अर्थ—अग्निमें ताप है, उससे चाहे पाला गिरे। (वै०)

विषयमें क्या विशेषता हुई? यह उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि *'तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ तें प्यारे'* अर्थात् रघुपति भी तुम्हें अपने प्राणोंके प्राण जानते हैं, यथा—*'तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के॥'* (२०८। ६)

टिप्पणी—३ *'तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू'* इति। भाव यह कि चन्द्रमा, पाला और जलचर, ये सब विश्वके प्रपंचमें हैं और प्राकृत हैं; अतएव ये चाहे मर्यादा छोड़ दें। पर तुम परम भागवत हो, दिव्य हो; अतएव तुम प्रतिकूल नहीं हो सकते। यथा—*'भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ। कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥'* (२३१) *'बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥' 'कबि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥'* (२३३। २)

**मत तुम्हार एह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥ ४॥**
**अस कहि मातु भरतु हिय लाए। थन पय श्रवहिं नयन जल छाए॥ ५॥**
**करत बिलाप बहुत एहि भाँती। बैठेहिं बीति गई सब राती॥ ६॥**
**बामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥ ७॥**
**मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥ ८॥**

शब्दार्थ—'**थन**'=स्तन,। '**महाजन**'=रईस, बड़े लोग। सुदेसे (सुदेश)=सुन्दर, यथा—*'अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराइ। मानों प्रगट कंजपर मंजुल अलि अवली फिरि आइ॥'*(सूर), *'लटकन चारु भृकुटियाँ टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेश सुहाए।'* (तुलसी)।=देशकालानुसार।

अर्थ—'यह तुम्हारा संमत है' (अर्थात् तुम्हारी रायसे वनवास माँगा गया) संसारमें जो कोई ऐसा कहते या कहेंगे वे स्वप्नमें भी सुख और शुभ गति न पावेंगे॥ ४॥ ऐसा कहकर माताने भरतजीको हृदयसे लगा लिया, उनके स्तनोंसे दूध निकलने लगा, नेत्रोंमें जल भर आया (यह दशाएँ अत्यन्त प्रेमकी हैं। ये अनुभाव या सात्त्विक भाव हैं)॥ ५॥ इस प्रकार बहुत विलाप करते-करते सारी रात बैठे-ही-बैठे बीत गयी॥ ६॥ तब वामदेव और वसिष्ठजी आये और सब मन्त्रियों और महापुरुषों—रईसोंको बुलाया॥ ७॥ मुनिने बहुत तरहसे भरतजीको देशकालानुसार सुन्दर परमार्थके वचन कहकर उपदेश दिया*॥ ८॥

नोट—१ *'मत तुम्हार यहु'''* इति। यह भरतजीको श्रीराममाताका आशीर्वाद और कलङ्क लगानेवालोंको शाप हुआ। *'पनेहु सुख सुगति'''* भाव कि सदा दुखी—आपदग्रस्त रहेंगे और उनको कभी सद्गति न मिलेगी। इससे जनाया कि महाभागवतापराधका यह फल होता है। यही श्रीरामजीने भी कहा है पर साथ ही इस घोर शापका परिहार प्रायश्चित्त भी बता दिया है। यथा—*'उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥' 'मिटिहहिं पाप''लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'* (२६३) श्रीकौशल्या अम्बाजीके *'मत तुम्हार यहु'*, 'सुख', 'सुगति' ही श्रीरामजीके *'आनत तुम्ह पर कुटिलाई'*, 'लोक' और परलोक' हैं।

नोट—२—*'थन पय श्रवहिं''''''* इति। पूर्व कह आये हैं कि *'सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहु राम फिरि आए॥'* (१६५-१) श्रीरामजीको गोदमें लेते ही स्तनोंसे दुग्ध निकलने लगता था, अत: जब श्रीभरतजीको हृदयसे लगाया तो मानो राम ही गोदमें हैं इससे इस समय भी दूध निकलने लगा। इस प्रसङ्गमें कविके *'राम भरतु दोउ सुत सम जानी।'* (५५। ६) ये वचन चरितार्थ हुए। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यहाँ राममाताके भरतप्रेमकी पराकाष्ठा बता दी है। माताका इतना परमोच्च आदर्श अन्यत्र मिलना असम्भव है!'

नोट-३—*'बामदेउ बसिष्ठ तब आए।''''''* इति (क) अ० रा० में भी कहा है 'एतस्मिन्नन्तरे श्रुत्वा भरतस्य समागमम्।' (२। ७। ९१) 'वसिष्ठो मन्त्रिभिः सार्धं प्रययौ राजमन्दिरम्।' अर्थात् भरतागमन सुनकर

* १—रा० प्र०—अर्थ—'परमार्थ-देशके सुन्दर वचन'।

मन्त्रियोंसहित वसिष्ठजी आये। (ख) वामदेवजी यज्ञकर्त्ताओंमेंसे हैं और ऐसे प्रतिष्ठित महर्षि हैं कि वसिष्ठजीकी भी बातकी सत्यताका विश्वास इनके कहनेसे होता था। यथा—'*बोले बामदेव सब साँची।*' (१। ३५९। ७) (पु० रा० कु०)।

नोट-४—'*कहि परमारथ बचन सुदेसे।*' इति। यथा—'**त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥**' (वाल्मी० २। ७७। २३) अर्थात् तीन द्वन्द्व (भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु) सभी प्राणियोंको होते हैं, इनसे कोई बच नहीं सकता है; अतएव शोक न करना चाहिये। एवम् 'शोक बहुत हुआ अब शोक करना व्यर्थ है। अब राजाके प्रेतकृत्य करनेका प्रबन्ध करना उचित है।' (सर्ग ७६। २) '*मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे*' इति। अ० रा० में इस अवसरपर बहुत उपदेश है। पन्द्रह श्लोकोंमें जो उपदेश है वह संक्षेपसे यह है—महाराज दशरथ वृद्ध, ज्ञानी और सत्यपराक्रमी थे। यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन कर साक्षात् भगवान्‌को रामरूपमें पाकर अन्तमें इन्द्रके अर्द्धासनके अधिकारी हुए। जीते-जी संसारके समस्त सुख भोगे। अतः शोक व्यर्थ है। आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, जन्म-मरणादिसे रहित है। शरीर नाशवान् है। जिसका जन्म होता है, उसके लिये मृत्यु अनिवार्य है। प्राणियोंका जन्म-मरण उनके कर्मानुसार होता है, अतः बन्धुबान्धवोंके लिये शोक मूर्ख लोग ही करते हैं, ज्ञानियोंको तो उनके वियोग-वैराग्य देखकर सुख और शान्तिका विस्तार करते हैं। आयु हिलते हुए पत्तेकी नोकपर लटकती हुई जलकी बूँदके समान क्षणभङ्गुर है, इसका क्या विश्वास है? पूर्व देहकृत कर्मोंसे यह शरीर मिला और फिर इसके कर्मोंसे और शरीर प्राप्त होगा। इसी प्रकार आत्माको पुनः-पुनः देहकी प्राप्ति होती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये वस्त्र पहनता है वैसे ही जीव पुराने शरीरको छोड़कर नयेको धारण कर लेता है। अतः शोकका कोई कारण नहीं है यथा—'**वृद्धो राजा दशरथो ज्ञानी सत्यपराक्रमः। भुक्त्वा मर्त्यसुखं सर्वमिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः॥ १३॥ अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्लब्ध्वा रामं सुतं हरिम्। अन्ते जगाम त्रिदिवं देवेन्द्रार्द्धासनं प्रभुः॥ १४॥ तं शोचसि वृथैव त्वमशोच्यं मोक्षभाजनम्। आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धो जन्मनाशादिवर्जितः॥ १५॥ शरीरं जडमत्यर्थमपवित्रं विनश्वरम्। विचार्यमाणे शोकस्य नावकाशः कथञ्चन॥ १६॥ निःसारे खलु संसारे वियोगो ज्ञानिनां यदा। भवेद्वैराग्यहेतुः स शान्तिसौख्यं तनोति च॥ १८॥ जन्मवान् यदि लोकेऽस्मिंस्तर्हि तं मृत्युरन्वगात्। तस्मादपरिहार्योऽयं मृत्युर्जन्मवतां सदा॥ १९॥ स्वकर्मवशतः सर्वजन्तूनां प्रभवाप्ययौ॥ विजानन्नप्यविद्वान्यः कथं शोचति बान्धवान्॥ १००॥''''यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्। तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम्॥ १०४॥ भजत्येव सदा तत्र शोकस्यावसरः कुतः। आत्मा न म्रियते जातु जायते न च वर्धते॥ १०५॥ षड्भावरहितोऽनन्तः सत्यप्रज्ञानविग्रहः। आनन्दरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी लयविवर्जितः॥ १०६॥ एक एव परो ह्यात्मा ह्यद्वितीयः समः स्थितः। इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा त्यक्त्वा शोकं कुरु क्रियाम्॥**' (१०७ सर्ग ७)—यह तथा और भी जहाँ जो लिखा है वह '*बहु भाँति*' में आ जाता है।

पंजाबीजी—मन्त्रियों और रईसोंको बुलानेकी क्या जरूरत थी? कारण कि भरतके आगमनपर कोई उनसे मिला नहीं, सबको उनकी ओरसे सन्देह था। यह समझकर सन्देहके निराकरणार्थ उनको बुलवाया।

'भरतागमन-प्रेमबहु-प्रकरण' समाप्त हुआ।

'करि नृपक्रिया' प्रकरण

**दो०—तात हृदय धीरज धरहु करहु जो अवसर आजु।**
**उठे भरत गुर बचन सुनि करन कहेउ सबु साजु*॥ १६९॥**

**नृपतन बेद बिदित† अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥ १॥**

* किसी-किसीने 'काज' पाठ दिया है।

† रा० प० में 'बिहित है। पं० रा० गु० द्विवेदी और भागवतदास आदिने 'बिहित पाठ दिया है। कई

**गहि पद भरत मातु सब राखीं। रहीं राम* दरसन अभिलाषीं॥ २॥**

शब्दार्थ—'**राखीं**'=रख लिया, सती होनेसे रोक रखा या बचा लिया, बाज रखा, बचाया। '**बिमान**'=मरे हुए वृद्ध मनुष्यकी अरथी (रथी) जो सजधजके साथ निकाली जाती है।

अर्थ—हे तात! हृदयमें धीरज धरो और आज इस समय जो करनेका मौका है (अर्थात् जो करना चाहिये) उसे करो। गुरुजीके वचन सुनकर भरतजी उठे और सब सामान तैयार करनेकी आज्ञा दी॥ १६९॥ वेदमें बतायी हुई प्रसिद्ध रीतिके अनुसार राजाके शरीरको स्नान कराया। परम विचित्र विमान बनाया गया॥ १॥ भरतजीने सब माताओंके चरण पकड़कर सती होनेसे रोक लिया। अर्थात् प्रार्थना करके जबरदस्ती सती न होने दिया। वे सब माताएँ भी रामदर्शनकी अभिलाषासे रह गयीं (सती न हुईं)॥ २॥

पु० रा० कु०—१ (क) *'उठे भरत गुर बचन सुनि'''''* इति। *'गुरोराज्ञा गरीयसी'* गुरु-आज्ञाका बड़ा गौरव है, अतः सुनते ही उठे। (ख) *'करन कहेउ सब साजु'* इति। किससे कहा ? मन्त्रियोंसे। मन्त्रियोंद्वारा राजाके प्रेतकृत्यका प्रबन्ध कराया। सुमन्त्र इतने हानि-ग्लानिवश हैं कि यहाँ ये आये ही नहीं, नहीं तो प्रायः सब प्रबन्ध उन्हींके द्वारा कराया जाता, उनका नाम अवश्य आता। यथा—*'सेवक सचिव सुमंत्र बोलाए। ''''कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ। रामराज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ॥'* (२०५) *'तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ हरषाइ। रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ॥ जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मगाइ।'* (७। १०) (ग) *'नृपतन'''''* इति। स्नान कराना कहकर जना दिया कि पहले राजाका शरीर तेलसे निकालकर पृथ्वीपर उत्तम बिछौनोंपर रखा गया। तत्पश्चात् ऋत्विक्, पुरोहित तथा आचार्योंको बुलाकर वेदोंमें कही हुई रीतिके अनुसार स्नान कराया गया। (घ) *'गहि पद भरत मातु सब राखीं।'''''* इति। अर्थात् जब विमान ले चले तब ये सब सती होनेको साथ चलीं। अतएव भरतजीने चरण पकड़कर विनती की कि पिता स्वर्गको गये, श्रीराम वनमें हैं, हमारी रक्षा कौन करेगा, जो तुम भी न रहोगी। पुनः कहा कि श्रीरामजी आवेंगे, मैं उनको जाकर लाऊँगा तब रामदर्शनाभिलाषासे रह गयीं। [सती होनेका निषेध किया। कहा कि धर्मशास्त्र कहता है कि जिसका पुत्र वीर हो, उसे सती न होना चाहिये। (रा० प्र०) दर्शनाभिलाषासे ही रहीं, इससे जनाया कि उन्होंने हरिप्राप्तिको विशेष माना। (वै०)]

पंजाबीजी—'सती होनेसे तो यश और सद्गति दोनोंकी प्राप्ति थी। फिर क्यों रोका?' उत्तर—भरतजीने सोचा कि इनके सती होनेसे हमें लोग बुरा कहेंगे और माताके मतमें समझेंगे; वे कहेंगे कि सब इससे जल मरीं कि न जाने यह राजा होनेपर हम विधवाओंकी क्या दशा करें। इस कलङ्कके निवारणार्थ विनती की।

मानसहंस—*'पति-सहगमन'* इति। वाल्मीकि और अध्यात्मरामायणोंमें दशरथजीके साथ उनकी स्त्रियोंके सहगमनकी इच्छा, उसपर भरतजीका निषेध और केवल रामदर्शनकी इच्छासे ही उनके वापस फिरनेके वर्णन नहीं हैं। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि ये सब वर्णन कविकल्पनासे ही उत्पन्न हुए हैं। २—स्त्रियोंके सहगमननिवारणके वर्णनसे कह सकते हैं कि उनकी सहगमनेच्छा और तैयारीको प्रथम दर्शाकर पश्चात् केवल रामदर्शनके लिये ही उनके वापस फिरनेकी कल्पना बड़ी ही प्रौढ़ और गम्भीर है। ३—पात्रोंके आचरणमें पूर्वापर विरोध न होने देनेके विषयमें गोसाईंजी कैसे सावधान थे—यह उपरिनिर्दिष्ट वर्णनसे सहज ही ध्यानमें आवेगा। यह उत्कृष्ट कविका लक्षण कहलाता है।

नोट—स्वामी प्रज्ञानानन्दजी, पंजाबीजी तथा मानसहंसके मतसे सहमत न होते हुए लिखते हैं कि 'मानसमें न जानें कितनी बातें ऐसी हैं जो वाल्मी० रा० और अ० रा० में नहीं हैं किन्तु जो किसी-

---

स्थलोंमें ऐसा पाठ आया है। ला० सीतारामका 'विदित' पाठ है। गी० प्रे० में भी यही पाठ दिया है। अतः राजापुरका पाठ 'बिदित' है। 'वेद बिदित' पाठ आगे भी आया है, 'वेद बिदित संमत सब ही का। (१७५। ३) वहाँ भी भा० दा० ने 'बिहित' पाठ दिया है। 'बिदित' पाठ फिर भी आनेसे वह लेखकका प्रमाद नहीं हो सकता। विहित=विधान किया हुआ, दिया हुआ। प० प० प्र० स्वामी 'वेद बिदित' 'नृपतन' का विशेषण मानते हैं।

* रानि—गी० प्रे०। रा० प्र० राम—पं० रा० गु० द्विवेदी, भा० दा०। 'राम' पाठ सुन्दर जान पड़ता है।

न-किसी रामायण, पुराण, संहिता आदिमें मिलती हैं। अतः इस वर्णनका भी कुछ-न-कुछ मूलभूत आधार मिलेगा ही। (२) भरतजीने जो निषेध किया उसका मूल तो *'आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान।'* (५३) श्रीरामजीके इस वाक्यमें ही है। *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन', 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'।* उन्हींकी प्रेरणासे भरतजीने रोका और वे सती होनेसे रह गयीं। (३) *'मातु सब'* अर्थात् कैकेयीको छोड़ सब माताओंको। कैकेयीको वैधव्यका किञ्चत् शोक है ही नहीं, वह तो राजमाता बनना चाहती है। वह सती होना क्यों चाहेगी!' ☞ जो लोग सृष्टिका आरम्भ कुछ हजार वर्षोंसे माननेवाले हैं, जो पाश्चात्य विज्ञानियोंकी आँखोंसे देखते हैं, वे समझते हैं कि बस 'रामावतार' एक ही बार हुआ और जितनी रामायणें हैं वे सब इसी अवतारकी हैं, अवतार न माननेवाले साहित्यज्ञ रामायणके चरित्रोंको कविकल्पना समझकर आलोचना किया करते हैं।

**चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥ ३॥**
**सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥ ४॥**
**एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥ ५॥**
**सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥ ६॥**
**जहँ जस मुनिबर आयेसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥ ७॥**

शब्दार्थ—'**अनेक**'=बहुत प्रकारके (गुग्गुल, सरस, पद्मक, केसर, कचूर, कस्तूरी, कपूर, बालछड़, इत्यादि) '**सरजु तीर**'—सरयूके तटपर विल्वहरिघाट, जिसे आजकल बेलहर घाट कहते हैं और जो नगरसे पूर्व चार कोसपर है, वहाँ। '**चिता**'=चुनकर रखी हुई लकड़ियोंका ढेर जिसपर रखकर मुर्दा जलाया जाता है। '**दाहक्रिया**'=शव (मुर्दा) जलानेका कर्म। शुद्धितत्त्वमें दाहकर्म इस प्रकार है—शवको श्मशानपर रखकर उसपर घी मलकर मन्त्रपाठपूर्वक स्नान कराकर नया वस्त्र पहनाकर दोनों आँखों, कानों, नाक-छिद्रों और मुँहमें सोना रखें। प्राचीनावीत होकर बाँया घुटना टेककर बैठे और मन्त्र पढ़कर कुशसे एक रेखा खींचे, कुश बिछाकर तिलसहित जलपात्र हाथमें लिये मृतकका नाम-गोत्रादि उच्चारण करता हुआ उसे कुशपर गिरावे। फिर तिलसहित पिण्ड लेकर कुशपर विसर्जित करे। इतना कृत्य करके चिता रचकर शवको उसपर दक्षिण ओर सिर करके लिटा दें। जो सामवेदी हों वे शवका मस्तक उत्तरकी ओर रखें, फिर हाथमें अग्नि लेकर तीन प्रदक्षिणाएँ करके, दक्षिण ओर अपना मुख करके शवके मस्तककी ओर आग लगा दें। फिर सात लकड़ियाँ हाथमें लेकर सात प्रदक्षिणाएँ करे और प्रत्येक प्रदक्षिणामें एक-एक लकड़ी चितामें डालता जाय। जब शव जल जाय तब एक बाँस लेकर चितापर सात बार प्रहार करे जिससे कपाल फूट जाय। इतना करके फिर चिताकी ओर न ताके और जाकर स्नान कर ले। (श० स०) '**तिलांजुलि**'—यह मृतक संस्कारका एक अङ्ग है जिसमें मतृकके जल चुकनेपर स्नान करके हाथकी अँजुलीमें तिल और जल लेकर मृतक प्राणीके नामपर छोड़ते हैं। '**सोधि**'—खोज कर, विचार करके। '**सुमृति**' (स्मृति)=धर्मशास्त्र। '**दसगात**'=दशगात्र, सूतक-सम्बन्धी एक कर्म जो मनुष्यके मरनेपर दस दिनोंतक होता रहता है। इसमें प्रतिदिन पिण्डदान किया जाता है। पुराणोंमें लिखा है कि इसी पिण्डके द्वारा क्रमसे प्रेतका शरीर बनता है। पहले पिण्डसे सिर, दूसरेसे आँख, कान, नाक इत्यादि। दसवें दिन शरीर पूरा हो जाता है।—गरुड़पुराण देखिये। (श० सा०) दस दिनोंकी क्रियासे आतिवाहिक देह निर्मित होती है जिससे वह जीव कर्मानुसार लोक-लोकान्तरमें पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये जाता है। प्रायः प्रथम यमराजके दरबारमें उनके दूत उसे ले जाते हैं। (प० प० प्र०) '**विधान**'=अनुष्ठान, क्रिया, कार्यका होना, रीति, विधि।

अर्थ—चन्दन, अगर और-और भी अनेक बेअंदाज सुन्दर सुगन्धित द्रव्योंके बहुत बोझ आये॥ ३॥ सरयूके तटपर रचकर चिता बनायी गयी (जो ऐसी दीखती थी) मानो स्वर्गकी सुन्दर सीढ़ी ही हैं॥ ४॥ इस प्रकार सब दाहक्रिया की और विधिपूर्वक सबने स्नान करके तिलाञ्जलि दी॥ ५॥ सब स्मृति, वेद

और पुराणोंको शोधकर भरतजीने दशगात्र क्रिया की॥ ६॥ मुनिश्रेष्ठने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ सब वैसा ही भरतजीने सहस्र प्रकारसे किया॥ ७॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'सुगंध'* इति। इत्र, गुलाब, केसर आदि देहमें लगानेके लिये आये। चन्दन, अगर चिता बनानेके लिये। यथा······**''चन्दनागुरुनिर्यासान्सरलं पद्मकं तथा। देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे॥ गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम्।'** (२। ७६। १६-१७)

टिप्पणी २—*'तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा'*—इति। अर्थात् जहाँ एक गोदान बताया वहाँ हजार किये। जहाँ एक विधि उन्होंने कही वहाँ इनने सहस्र विधिसे की। इससे इनकी श्रद्धा दिखायी '····**श्रद्धाभक्तिसमन्वितः**'।

**भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥ ८॥**

**दो०—सिंघासन भूषन बसन अन्न धरनि धन धाम।**
**दिए भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरन काम॥ १७०॥**

**पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी॥ १॥**

शब्दार्थ—'**लहि**'=पाकर। '**काम**'=कामनाएँ, इच्छा। '**करनी**'=मृतक क्रिया, अन्तेष्टि कर्म, मृतकसंस्कार। 'करनी करना' अवधी मुहावरा है।=मरनेपर जो दान आदि किया जाता है—(दीनजी)

अर्थ—विशेष शुद्ध होकर श्रीभरतजीने बहुत-सी गायें, घोड़े, हाथी, रथ आदि अनेक प्रकारके वाहन, सिंहासन, भूषन, वस्त्र, अन्न, पृथ्वी, धन और घर सब (प्रकारके) दान (सब ब्राह्मणोंको) दिये। ब्राह्मण दान पाकर परिपूर्ण काम हो गये (अर्थात् उनकी इच्छाएँ ऐसी भरपूर संतुष्ट हो गयीं कि उन्हें और माँगनेकी इच्छा ही न रह गयी)॥ ८। १७०॥ पिताके लिये भरतजीने जैसी करनी की वह लाखों मुखसे भी नहीं कही जा सकती॥ १॥

नोट—१ *'भए बिसुद्ध······'* इति। दस दिनतक सूतक रहता है। ग्यारहवें दिन शुद्धि होती है। बारहवें दिन सब श्राद्ध कर्म होनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको दान दिया गया। यथा—'**द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत्॥**' (१) **ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकम्॥**' (वाल्मी० २। ७७। ३) यह दान राजाके परलोकके निमित्त दिया जाता है।

पाण्डेजी—*'भे परिपूरन काम'* इति। भाव यह कि सब काम परिपूर्ण हुए। १—राजाकी क्रिया। २—भरतजीका मनोरथ उस क्रियाके करनेमें। और, ३—दान पानेवाले ब्राह्मणोंकी इच्छा पूर्ण हुई, वे अघा गये।

नोट—२ *'पितु हित······'* से भरतजीकी पिता तथा पितृकर्ममें अत्यन्त श्रद्धा दिखायी।

**'करि नृपक्रिया' प्रकरण समाप्त हुआ।**

## प्रथम दरबार (श्रीअवधमें)

'संग पुरबासी। भरतु गए जहँ प्रभु सुखरासी'—प्रकरण

**सुदिन सोधि मुनिबर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥ २॥**
**बैठे राजसभा सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई॥ ३॥**
**भरतु बसिष्ठु निकट बैठारे। नीति धरम मय बचन उचारे॥ ४॥**
**प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कइकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी॥ ५॥**
**भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेमु निबाहा॥ ६॥**

शब्दार्थ—उचारे=उच्चारण किया, कहे। सुदिन=सुन्दर दिन। दिन, तिथि, नक्षत्र, वेला इत्यादि मुहूर्त्त। महाजन=श्रेष्ठ पुरुष, धनी, कोठीवाल, प्रामाणिक आचरणवाले, रईस।

अर्थ—अच्छा दिन शोधकर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी आये और सब मन्त्रियों और रईसोंको बुलाया॥ २॥ सब लोग आकर राजसभामें बैठे। तब श्रीभरत, शत्रुघ्न दोनों भाइयोंको बुला भेजा॥ ३॥ वसिष्ठजीने भरतजीको अपने पास बिठा लिया और नीति और धर्म-मय वचन बोले॥ ४॥ जैसी कुटिल करनी कैकेयी की थी वह सब कथा मुनिश्रेष्ठने प्रथम कही॥ ५॥ फिर राजाके* सत्य-धर्मव्रतकी सराहना की, जिन्होंने शरीर त्यागकर प्रेमको निबाहा॥ ६॥

नोट—१ *'सुदिन सोधि मुनिबर तब आए।'''* इति। (क) 'सुदिन शोधकर आज वसिष्ठजी इसलिये आये थे कि आज श्रीभरतको राज्यका अधिकार देंगे। पर भरतजीने उनकी बात न मानी। तो मुहूर्त्त शोधनेका फल ही क्या हुआ?' इस शङ्काका समाधान यह है कि भला दिन, लग्न और मुहूर्त्त वही है जिसमें सभीकी मति धर्ममें रँगी रहे और भरतजीने आज परमधर्मका निर्णय कर अपना तिलक न कराके श्रीरामजीकी सेवा ही करना और उनके पास जाना ही निश्चय किया—इस तरह शुभ दिन शोधनेका फल पूर्ण हुआ! यदि ऐसा न होता तो वसिष्ठजी क्या अपनी आज्ञाको भङ्ग होता देख प्रसन्न होते? कदापि नहीं। पर वे तो भरतजीपर परम प्रसन्न हुए। यह नहीं सब सभाभर प्रसन्न हुई, यथा—*'भा सब के मन मोद न थोरा। भरत प्रानप्रिय भे सबही के॥'* (१८५। २) वस्तुतः मुनि सब जानते हैं पर लोकरीति निबाहते हैं। (पं० रा० कु०) (ख) यह वैशाख शुक्ल ५, मृगशिरा, चन्द्रवार था। (बै०) वाल्मीकिजी राजाकी क्रियासे १४ वाँ दिन लिखते हैं। यथा—'**ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे। समेत्य राजकर्तारो**.....' (२। ७९। १)

नोट—२ *'बैठे राजसभा सब जाई।'''* इति। (क) *'जाई'* से जनाया कि जब सब आ गये, तब राजसभामें जाकर बैठे। जब-जब कोई राज्यकार्य होता रहा है तब-तब राजा इक्ष्वाकुजी, रघुजी, दिलीपजी, दशरथ महाराज आदि यहाँ बैठकर निर्णय करते आये हैं और आज भी राजगद्दीपर बिठानेका विचार करना है। ( पु० रा० कु०) (ख) *'पठए बोलि भरत दोउ भाई'* इति। दोनों भाइयोंको क्यों बुलाया, राजतिलक तो भरतका निश्चय ही था? उत्तर यह है कि दूधका जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है। भरतके न होनेसे रामराज्याभिषेकमें विघ्न हुआ। डरते हैं कि इसमें भी कोई उपद्रव न हो जाय। अकेले उनको बुलानेमें फिर कोई फसाद न उठ पड़े। यह सोचकर शत्रुघ्नजीको भी बुलाया। (रा० प्र०) अथवा, वसिष्ठजी जानते हैं कि *'भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'* शत्रुघ्नजीको न बुलानेसे वे सेवासे वञ्चित रहनेसे दुखी होंगे। भरतके सिंहासनाधिष्ठित होनेपर वे चमरधारी होंगे। (प० प० प्र०) ऐसा ही अ० रा० में भी कहा है, यथा—'**तत्रासने समासीनश्चतुर्मुख इवापरः। आनीय भरतं तत्र उपवेश्य सहानुजम्॥**' (२। ८। २) अर्थात् राजसभामें ब्रह्माके समान आसनपर बैठकर श्रीवसिष्ठजीने भाईसहित भरतजीको बुलाकर आसनपर बैठाया।

नोट—३ *'भरतु बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरम मय'''* इति। (क)—भरतको ही निकट क्यों बिठाया? यह शङ्का करके उसका समाधान पंजाबीजी यह करते हैं कि इनको राजाने राज्य दिया है, इनसे कोई बात गुप्त भी कहना पड़े तो पास रहनेसे धीरेसे कह सकेंगे। वा, इनको खिन्न देखकर उनका मान बढ़ानेके लिये निकट बैठाया। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इन्हें यह आदर दिया जिसमें ये उनकी आज्ञा मानकर

---

* अनेक प्रकारसे इसके अर्थ लोगोंने किये हैं। जैसे (क) 'प्रथम कथा'=राजाका मनोरथ और तिलककी तैयारी। और 'कइकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी'=कुटिल कैकेयीने जैसी कुटिल करनी की कि कोपभवनमें जाकर राजाको वचनबद्ध कराके तब वर माँगा। (रा० प०। पं० रा० कु०) (ख) 'कैकेयी और कुटिला कुबरीने', 'जिस करनीने कैकेयीको कुटिल कर दिया वह देवताओंकी करनी', इत्यादि। (किला, रा० प्र०) पर सीधा अर्थ छोड़नेकी आवश्यकता जान नहीं पड़ती।

नोट—मिलान कीजिये—कैकय्या याचितं राज्यं त्वदर्थे पुरुषर्षभ। सत्यसन्धो दशरथः प्रतिज्ञाय ददौ किल॥ (अ० रा० २। ८। ४) यही 'धरम ब्रतु सत्य सराहा' है।

राज्य ग्रहण करें। हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि शत्रुघ्नजी लक्ष्मणजीके भाई हैं उनके सामने गुप्त बात न कह सकेंगे। [परंतु ये धर्मपरायण लक्ष्मणजीके भाई हैं जो श्रीरामजीकी सेवामें हैं। इनके मनमें कुटिलताकी सम्भावना करना उचित नहीं। निकट बिठाना आदर-सत्कार है, यथा—*'अति आदर समीप बैठारे'* और इन्हींसे बात करना है, इन्हींको समझाना है, सभाके बीचमें सब होगा, वहाँ गुप्त कुछ नहीं।]

(ख) नीतिमय=जिसमें नीतिका ही वर्णन है। धर्ममय=जिसमें धर्मका वर्णन है। यहाँ 'नीति' पद देकर तब 'धर्म' पद दिया, क्योंकि भरतजी नीतिके अनुसार राज्यके अधिकारी हैं। नीति है कि *'जेहि पितु देइ सो पावइ टीका'* यह बात आगे वसिष्ठजी कहेंगे। धर्मशास्त्रकी रीति *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'* के अनुसार तो श्रीरामजीको ही राज्यका अधिकार है। (शीला) पुनः धर्मको नीतिके बाद रखनेसे भरतको जवाब देनेकी राह रह जाती है, नीतिमें नहीं रह जाती (रा० प्र०) वे धर्मको ग्रहण करके राज्य स्वाकीर न करेंगे।

नोट-४ *'कइकइ कुटिल'''* 'इति। कैकेयीको कुटिल कहा; क्योंकि इसकी करनी भरतजीको न सुहायी। यह विशेषण भरतजीके रुचिके अनुकूल दिया—यह नीतिमय वचन है। *'तात कैकइहि दोष नहिं'* ऐसा न कहा; क्योंकि इसका प्रभाव तुरत कुछ न होता। (पु० रा० कु०) अथवा, कैकेयीको सभी लोग कुटिल कहते हैं, यथा—*'देहिं कुचालिहि कोटिक गारी', 'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।'* (४७। ४) *'कारन कवन कुटिलपन ठाना।'* (४७। ६), *'लखि कुचालि कीन्हि कछु रानी।'* (३९। २) *'कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।'* (९१) इत्यादि। मुनिने लोकव्यवहारानुरूप कहा। (प० प० प्र०)

पु० रा० कु०—भूपका धर्मव्रत और सत्यव्रत सराहा। धर्मव्रत यह कि किसीकी धरोहर रखी हो तो माँगनेपर उसे तुरत दे दे। कैकेयीके दो वरदान राजाके पास थाती थे—*'दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥'* (२२। ५) राजाने भी कहा है *'थाती राखि न माँगेहु काऊ।'* जब उसने माँगा तब दिया और सत्यव्रत यह कि स्त्रीके साथ क्या झूठ क्या सत्य? वह कौन दानकी पात्र है? फिर किस समय यह वर माँगा गया? उसके साथ भी सत्यव्रतको निबाहा। उससे यह कहा था कि *'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए'* और *'प्रान जाहु बरु बचन न जाई'।* अतः प्राण दे दिये, पर सत्य न छोड़ा। [रा० प्र० का मत है कि रघुनाथजीके त्यागमें सत्यव्रत-धर्म निबाहा और तन त्यागकर रघुनाथजीके प्रेमको निबाहा। पर पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि 'पूर्वार्ध (चरण) वसिष्ठवाक्य है और उत्तरार्द्ध गोस्वामिवाक्य है। गुरुने धर्म और सत्यकी प्रशंसा की और ये कहते हैं कि हम तो उनको प्रेमी कहते हैं कि तन त्यागकर प्रेम निबाहा। यदि गुरु उनको प्रेमी कहें तो भरत भी कहीं तन त्याग करनेको तैयार न हो जायँ।']

नोट—५ *'भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा'* में यह शंका होती है कि उनको सत्यमें प्रेम था, श्रीराममें उतना भी प्रेम न था। श्रीकौसल्याजीने कहा भी है—*'सुनहु राम मेरे प्रान पियारे। बारौं सत्य बचन श्रुति संमत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ १॥ बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे॥ २॥ रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल तें चिंतामनि डारे। मुनि लोचन चकोर ससि राघव सिव जीवन धन सोउ न बिचारे॥ जद्यपि नाथ तात! माया बस सुख निधान सुत तुम्हहिं बिसारे।'* (गी० २। २१) इसका निराकरण *'तनु परिहरि प्रेम निबाहा'* कहकर किया।

**कहत राम गुन सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥ ७॥**
**बहुरि लषन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी॥ ८॥**
**दो०—सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।**
**हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥ १७१॥**
**अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥ १॥**

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके गुण, शील और स्वभावको कहते-कहते मुनिराज वसिष्ठजीके नेत्रोंमें जल भर

आया और शरीर रोमाञ्चित हो गया॥७॥ फिर लक्ष्मणजी और सीताजीकी प्रीति बखान (प्रशंसा और विस्तारसहित वर्णन) करते हुए ज्ञानी मुनि शोक और स्नेहमें डूब गये॥८॥ मुनिनाथ वसिष्ठजीने 'विलखकर' कहा—भरत! सुनो। भावी (होनहार, हरि-इच्छा) बड़ी बलवान् है, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सब विधिके हाथ हैं॥१७१॥* ऐसा विचारकर किसे दोष दिया जाय और व्यर्थ किसपर क्रोध किया जाय॥१॥†

नोट—१ *'कहत राम गुन सील सुभाऊ।'''* इति। परम प्रसन्नतापूर्वक पितु-आयसुपालन करना आदि गुण, यथा—*'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु चरन अनुरागी॥'* शील कि कैकेयीके परम निष्ठुर निश्शील कठोर वचनोंको सुनकर भी उनको कुछ न कहा, वरन् उलटे *'राम जननि सिख सुनि सुख पावा'*; स्वभाव यह सब है ही।' पुनः, *'सबकर सब बिधि करि परितोषू।'''* *'तिलक को बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाउ। हृदय दाडिम ज्यों न बिदर्‍यो समुझि सील सुभाउ॥'* (गी० २। ५७) *'कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयउ राउ। ता कुमातु को मन जुगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥'* (वि० १००) आदि सब शील स्वभाव है। (रा० प्र०, पं०)

नोट—२ *'बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी।'''* इति। (क) पहले श्रीसीताजी साथ हुईं तब लक्ष्मणजी। उनकी प्रीति भी इसी क्रमसे कहनी चाहिये थी, पर प्रथम लक्ष्मणजीकी प्रीति कही। क्रमके विपर्ययका कारण *'सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी'* है। पुनः, दूसरा भाव कि यहाँ यह क्रम देकर अन्य रामायणोंके मतकी भी रक्षा की। वाल्मीकीयमें लक्ष्मणजीका प्रथम ही कौसल्याजीके यहाँ साथ जाना वर्णित है, उससे भी उनका रामप्रेम प्रकट ही है। (ख) *'सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी'* इति। यहाँ श्रीलक्ष्मण-जानकीजीके प्रीतिका प्राबल्य दिखाया है कि मुनि ज्ञानी हैं, ज्ञानियोंको शोक और स्नेह कैसा? पर योग-वसिष्ठके कर्त्ता भी शोक और स्नेहमें डूब गये। यह उनके स्नेहकी महिमा है। यहाँ यह भी दिखाया कि *'तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥ सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू।'* (२७७। ५)

'बिलखि कहेउ मुनिनाथ'''बिधि हाथ'

पाँ०—*'बिलखि'* के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ है—'उदास होकर, दुःखी होकर'। दुःखी होकर कहा, क्योंकि उनकी कुछ चली नहीं, दूसरे वे शोक और 'स्नेहमें मग्न हैं'। दूसरा अर्थ यहाँ यह भी है कि 'विशेष लखकर' कहा। मुनिने सोचा कि कदाचित् भरत कहें कि आप ऐसे मुनिश्रेष्ठके रहते हुए भी ऐसा अनर्थ हो गया, (चित्रकूटमें कहा है—*'सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेंकी'*); अतएव उसकी रोकके लिये वे पहलेसे ही अपनी असमर्थता और भावीकी प्रबलता जनाये देते हैं। *'मुनिनाथ'* शब्द देकर जनाया कि यह बात उन्होंने मनन करके विचारपूर्वक कही।

दीनजी दूसरा अर्थ ठीक मानते हैं। वे लिखते हैं कि इस शब्दका अर्थ 'व्याकुल होकर' न होना चाहिये, क्योंकि वसिष्ठजी व्याकुल होते तो ऐसे विवेकपूर्ण वचन न कह सकते। विलखि=वि+लक्ष्य=विशेष लक्ष्य करके, विवेकपूर्वक।

बाबा हरिहरप्रसादजी और-और भी अनेक महानुभावोंने 'दुःखी होकर' ऐसा अर्थ किया है। पंजाबीजी और पं० रामकुमारजी आदिने दोनों अर्थ दिये हैं।

गौड़जीका मत है कि *'बिलखि'* का अर्थ 'दुःखी होकर' ही प्रसंगानुसार अधिक उपयुक्त है और साधारण रूढ़ि भी इसी अर्थकी पोषक है। विधाताके पुत्र वसिष्ठजीकी भी एक न चली, वह भी न सँभाल सके, इसके लिये इस प्रसंगपर वह *'बिलख'* कर कहते हैं। 'विलक्ष्य' अर्थ करना विलक्षण अर्थ है।

नोट-२ मुं० रोशनलाल—यहाँ भावीको प्रबल कहकर उत्तरार्धमें उसकी प्रबलता कहते हैं कि भावी हानि-

---

* अर्थान्तर—'प्रारब्धके प्रबल होनेसे हानि-लाभ ब्रह्माके अधीन रहती है।' (न० प०)

† यथा—'सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवनं च। पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैव तुष्येच्च शोचेत्॥' (महाभारत) अर्थात् सुख-दुःख आदि सब क्रमसे प्राप्त होते हैं, पण्डितको इनसे न तो प्रसन्न होना और न इनका सोच करना चाहिये। (अज्ञात)

लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि अपने हाथमें रखती है। भावी हरि-इच्छा है। भावीको ब्रह्मा भी नहीं जानते; जानते तो अपना पाँचवाँ सिर क्यों कटा बैठते। (पु० रा० कु०) विधिका अर्थ ब्रह्मा हो सकता है परन्तु पहले भावीकी प्रबलता कही है, उसे छोड़कर ब्रह्माका कहना अर्थको शिथिल करता है। और यदि कहो कि जो ब्रह्मा वही भावी है तो फिर भावीको ही क्यों नहीं प्रधान करते? ब्रह्माके कहनेका क्या प्रयोजन?

नोट—३ *'हानि लाभु जीवनु·····'* अर्थात् दैव ही बलवान् है। 'भावी' पर विशेष *'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* (१। ५६। ६-८) और *'जेहि जस रघुपति करहिं जब·····।'* (१। १२४) में देखिये। यहाँ 'प्रबल' विशेषण देनेमें भाव यह है कि इस भावीमें हरि-इच्छा सम्मिलित है, इससे यह प्रबल हो गयी; यथा—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'*

☞ यहाँ मुनिने जो छः बातें कहीं—हानि-लाभ इत्यादि वे सब इस प्रसङ्गमें इसी कथामें घटित होती हैं। हानि अवधवासियोंकी, लाभ देवताओं और वनवासी मुनि आदिका, यथा—*'एक कहहिं भूपति भल कीन्हा। लोयन लाहु हमहि जेहि दीन्हा॥'* जीवन सुग्रीव और विभीषण आदिका, मरण रावण आदिका, यश भरत-लक्ष्मण आदिका और अपयश कैकेयी-मन्थराका। इस कथनका भाव यह है कि हमने खूब अच्छी तरह विचारकर देख लिया कि ये अवश्यमेव होंगी, इससे कुछ कर न सके।

श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'यद्यपि यहाँ लक्ष्य केवल श्रीरामवनगमनरूपी हानि, दशरथ-मरण और कैकेयी-अपयश—इन तीन बातोंपर है तथापि हानिके साथ लाभ, मरणके साथ जीवन और अपयशके साथ यश भी लगाकर कहा गया है। कारण कि इन शब्दोंका जोड़ा होता है। ये द्वन्द्व कहलाते हैं। यदि एक भी कहना होता तो दोनों उच्चारण किये जाते हैं। इसीसे हानि-लाभ इत्यादि कहा गया।

नोट—४ *'अस बिचारि केहि देइअ दोसु।·····'* यथा—*'दोष देहिं जननी जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई॥'* (२६३।८) यदि भरत कहें कि हमने दोष देना और क्रोध करना छोड़ा पर पिताका शोक तो हृदयसे नहीं जाता, उसपर आगे कहते हैं—*'सोच जोग·····'*। (रा० प्र०)

**तात बिचारु करहु मन माहीं। सोचु जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥ २॥**
**सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥ ३॥**
**सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥ ४॥**
**सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥ ५॥**
**सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखरु मानप्रिय ग्यान गुमानी॥ ६॥**
**सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥ ७॥**

शब्दार्थ—'**सोचिअ**'=शोक या चिन्ता करने योग्य हैं। '**लयलीना**'=अनुरक्त, मग्न,तत्पर।=प्रेममें रँगा हुआ। '**बयसु**'=वैश्य, बनिया। '**अवमानी**'=अपमान, अनादर या तिरस्कार करनेवाला। '**मुखरु**'=कटुभाषी, अप्रिय बोलनेवाला, बहुत बकवाद करनेवाला। '**अतिथि**'=आतिथ्य-पूजा-सत्कार, अभ्यागतका सत्कार। '**गुमानी**'=घमंडी, अहङ्कारी, मगरूर। '**बंचक**=छल करनेवाली, ठगनेवाली। '**कलह प्रिय**'=झगड़ालू, लड़ाका। '**इच्छाचारी**'=अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाली, स्वतन्त्र।

अर्थ—हे तात! मनमें विचार करो (तो) राजा दशरथ शोच करने योग्य नहीं हैं॥ २॥ वह ब्राह्मण सोचने योग्य है जो वेद न जानता हो, जो अपना धर्म छोड़कर विषयोंमें लयलीन हो (भोगविलासमें आसक्त हो)॥ ३॥ शोच करना चाहिये उस राजाके लिये जो नीति न जानता हो और जिसको प्रजा प्राणके समान प्यारी न हो॥ ४॥ उस वैश्यका शोच करना चाहिये जो धनवान् होकर भी कंजूस हो और जो अतिथि-सत्कार और शिवभक्तिमें कुशल वा चतुर न हो॥ ५॥ ब्राह्मणका अपमान करनेवाला, बकवादी,प्रतिष्ठा, मान वा बड़ाईका चाहनेवाला और अपने ज्ञानका गुमान करनेवाला शूद्र सोचने योग्य है॥ ६॥ पुनः पतिसे छल करनेवाली, कुटिला, झगड़ालू और अपनी इच्छापर चलनेवाली स्त्रीके लिये शोच करना चाहिये॥ ७॥

नोट—१ (क) वसिष्ठजी दो पक्ष उठा रहे हैं। एक शोचनीय दूसरा अशोचनीय। शोचनीयका कथन करनेसे अशोचनीय आप ही अलग हो गये। (रा० प्र०) मुख्य प्रयोजन तो *'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं'* इसीसे है, पर इसके साथ चारों वर्णों, आश्रमों और स्त्रियों सभीके धर्म कहे। इससे, कविकी लोकसंग्रह वा लोकशिक्षापर कैसी दृष्टि है, यह सूचित हो रहा है। अर्धाली ३ से ६ तक चारों वर्णोंके धर्म कहे। फिर अर्धाली ७ में चारों वर्णोंकी स्त्रियोंका धर्म कहा। सब वर्णोंकी स्त्रियोंके लिये एक ही धर्म है; अतः उन सबको एक ही अर्धालीमें कहा। अर्धाली ८ में ब्रह्मचर्य, दोहेमें गृहस्थ और संन्यास, फिर उसके बादकी एक अर्धालीमें वानप्रस्थ आश्रमके धर्म दिखाये। तत्पश्चात् सभीके धर्म एक साथ कहे गये, जो सभी वर्णाश्रमोंके लिये योग्य नहीं।

(ख) भगवद्गीतामें भगवान्ने **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** कहकर अर्जुनको फटकारा कि तुम अशोच्यको सोचते हो, पर यह नहीं बतलाया कि आखिर शोच्य कौन है और न इस बातको किसी भाष्यकारने ही स्पष्ट रीतिसे दिखलाया है। श्रीरामचरितमानसमें यहाँपर शोच्योंकी तालिका प्रस्तुत कर दी गयी है! यहाँ स्पष्ट बतला दिया गया कि बारह लोग शोचनीय हैं, और इसी व्याजसे वर्णाश्रम-धर्मका संक्षिप्त तथा मार्मिक विवेचन किया गया है। (वि० त्रि०)

नोट— २ *'सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना'……'* इति। वेदाभ्याससे विशेष हीन हैं, अर्थात् गायत्री नहीं जानते, वेदकी एक ऋचा भी नहीं जानते। यह ब्राह्मणोंको उपदेश है। वेद-विहीन होनेसे न स्वयं धर्म कर सके, न दूसरोंको उपदेश दे सके।

नोट—३ *'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना'……'* इति। (क) यह राजनीति है। राजाको नीतिमें निपुण होना चाहिये; क्योंकि *'राज कि रहइ नीति बिनु जाने।'* (७। ११२। ६) और प्रजा प्राणोंके समान प्यारी होनी चाहिये, क्योंकि प्रजाके दुःखी होनेसे राजा नरकगामी होता है, यथा—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥'* (७१। ६) यह दोनों बातें महाराजमें थीं। अतएव वे सोच करने योग्य नहीं। यह कलिके, विशेषतः अपने समयके, राजाओंके लिये शिक्षा है कि जो प्रजाको भेड़-बकरी-सा जानते हैं, उनके खूनके प्यासे रहते हैं। दिन-दिन नया कर लगाते जाते हैं और प्रजाके प्राण और धनादिकी रक्षा भी नहीं करते। (ख) यहाँ व्यापक शब्द 'क्षत्रिय' न देकर राजधर्म कहनेका कारण यह है कि यहाँ राजाके शोचसे भरतजीको निवृत्त करना है। दूसरे, राजा, नरेश, नृप क्षत्रियका वाचक भी होता है। *'ते नरेस बिनु पावक दहहीं।'* (१२६। ३) में देखिये, श्रीरामजी राजा नहीं हैं, फिर भी उन्होंने अपने लिये 'नरेश' शब्द दिया है।

नोट—४ *'सोचिअ बयसु'……'* (क) मनुस्मृतिमें शिवभक्त होना यह लक्षण नहीं पाया जाता। लोकसंग्रहार्थ लिखा होगा। *'पूजि पारथिव नायउ माथा।'* (१०३। १) देखिये। (ख) शिवभक्तिसे धनकी वृद्धि होती रहेगी, यथा—*'काहे को अनेक देव सेवत जागै मसान खोवत अपान सठ होत हठि प्रेत रे। काहे को उपाय कोटि करत मरत धाय जाचत नरेस देस देस के अचेत रे॥ तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु, धन ही के हेत दान देत कुरुखेत रे। पात द्वै धतूरे के दै भोरें कै भवेस सों सुरेस हू की संपदा सुभाय सों न लेत रे॥'* (क० ७। १६२) उससे अतिथि-सेवा होगी। धनवान् होकर अतिथि-सेवा न करनेसे धनको अग्नि, नृप या चोर ले लेते हैं, यथा—*'लक्ष्मीके सुत चार हैं धर्म अग्नि नृप चोर। जेठेके अपमान ते तीनि करैं घर फोर॥'* (अज्ञात)

नोट—५ *'सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी'* यथा—*'बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि॥'* (७। ९९) *'ग्यानगुमानी'*, यथा—*'जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाँटि॥'* (७। ९९) *'मान प्रिय'* यह कि हमारी प्रतिष्ठा हो, हमें लोग पूजें, ब्राह्मणों, क्षत्रियों आदिमें हमें लोग श्रेष्ठ मानें।

नोट—६ चारों वर्णोंके धर्म मनुस्मृतिमें यों कहे हैं—**'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।'** (२। १६८) **ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधिः। सर्वस्यास्य यथा**

न्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्।' (७। २) 'धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥ (९। ३३३) 'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥' 'प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥' 'पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥' 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥' (१। ८८—९१) अर्थात् जो द्विज वेद नहीं पढ़ता और अन्य विषयोंमें परिश्रम करता है वह जीते ही शूद्रत्वको प्राप्त होता है॥ (१६८) विधिपूर्वक संस्कार होनेपर क्षत्रियको न्यायके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये, वैश्य धर्मसे धन कमानेमें तत्पर रहे और सबको अन्न देवे। पुनः, ब्राह्मण धर्म है—अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना॥ (८८) क्षत्रियका धर्म है—प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयासक्त न होना॥ (२) इत्यादि। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० १७ में भी वर्णाश्रमके धर्मोंका वर्णन है। प० पु० स्वर्गखण्ड अ० ५२। ५३ में ब्राह्मण-धर्म देखिये।

नोट—७ *'सोचिअ पुनि पति बंचक नारी।'''''* इति। (क) जैसे वर्णधर्म, आश्रमधर्म वैसे ही स्त्री (पातिव्रत्य) धर्म है। वर्ण-धर्मके बाद आश्रमधर्म न कहकर स्त्रीधर्म कहा गया। शूद्रके साहचर्यसे स्त्रियाँ शूद्र-तुल्य मानी जाती थीं, चाहे वह ब्राह्मणकी ही स्त्री क्यों न हो, यथा—*'सहज अपावन नारि पति सेवत सुभ गति लहइ'* ये महातपस्विनी सती-शिरोमणि श्रीअनुसूयाजीके वचन महारानी श्रीसीताजीके प्रति हैं। पार्वतीजी अपने लिये कहती हैं—*'जदपि जोषिता अन अधिकारी।'* शबरीजी कहती हैं—*'अधम तें अधम अधम अति नारी।'* इनको धर्मकी शिक्षा दी कि पतिसे छल न करें, कुटिलता और कलह न करें और पतिकी आज्ञामें रहें। (पु० रामकुमारजी)

(ख) अथवा, सभी वर्णोंकी स्त्रियोंका धर्म एक है इससे वर्णधर्मके समीप ही स्त्री-धर्म कहे। (रा० प्र०, शीला०)

नोट—८-श्रीबैजनाथजीका मत है कि यहाँ पतिवञ्चक, कुटिल, कलहप्रिय और इच्छाचारी—ये चार विशेषण जो दिये गये वे क्रमसे उपर्युक्त चार वर्णोंकी स्त्रियोंके लिये पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। ब्राह्मणी पतिवञ्चक, क्षत्रियाणी कुटिल, वैश्यकी स्त्री कलहप्रिय और शूद्रा इच्छाचारिणी। पर यह भाव ग्रन्थकारके दिये हुए मतके अनुकूल नहीं जान पड़ता।

**सोचिअ बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहि गुर आयसु अनुसरई॥८॥**

**दो०—सोचिअ गृही जो मोह बस करिअ करम पथ त्याग।**
**सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥१७२॥**

**बैखानस सोइ* सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥१॥**
**सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥२॥**
**सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥३॥**
**सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई॥४॥**

शब्दार्थ—**बटु**=ब्रह्मचारी। '**अनुसरई**'=अनुसरण करता, अनुकूल आचरण करता है। '**करम पथ**'=कर्मकाण्ड। '**गृही**'=गृहस्थ। '**अपकारी**'=विरोधी, अनिष्टसाधक, बुराई करनेवाला। '**बैखानस**'=वानप्रस्थ।

अर्थ—उस ब्रह्मचारीका शोच करना चाहिये जो अपने व्रतको छोड़ देता है और जो गुरुकी आज्ञापर नहीं चलता॥८॥ उस गृहस्थका शोच करना चाहिये जो मोहवश कर्ममार्गको छोड़ देता है। मायामें लिप्त ज्ञान-वैराग्य-विहीन संन्यासीका शोच करना चाहिये॥१७२॥ तपस्या छोड़कर जिसे विषय-भोग-विलास अच्छा

* 'सोचइ'—(रा० प्र०, भागवतदास)। 'सोचन'—(पं० रा० गु० द्वि०, ला० सीताराम) गी० प्रे० में 'सोचै' पाठ है। अतः इसे राजापुरका समझकर इस संस्करणमें रखा है।

लगे वह वानप्रस्थ सोचने योग्य है॥ १॥ शोच करना चाहिये चुगलखोर, बिना कारण ही क्रोध करनेवाले और माता, पिता, गुरु और भाई-बन्धुसे विरोध करनेवालेका॥ २॥ दूसरेको हानि पहुँचानेवाला, अपने ही शरीरका पालन-पोषण करनेवाला अर्थात् अपना ही पेट भरनेवाला और बड़ा कठोर हृदयवाला सब प्रकार सोचने योग्य है॥ ३॥ और वह तो सभी प्रकारसे सोच करने योग्य है जो छल छोड़कर हरिभक्त नहीं होता॥ ४॥

नोट—१ वर्ण और स्त्री-धर्म कहकर अब आश्रम-धर्म कहते हैं। सबसे पहले ब्रह्मचर्य है, फिर गार्हस्थ्य, इसके बाद वानप्रस्थ और अन्तमें संन्यास-आश्रम है। यहाँ ब्रह्मचारी और गृहस्थको कहकर वैखानसको न कहकर पहले यतीको कहा है। यह क्रमभङ्ग भी साभिप्राय है। आगे इसके विषयमें लिखा गया है।

नोट-२—'*बटु निज ब्रतु परिहरई*……।' इति। प्राचीन कालमें उपनयन-संस्कारके उपरान्त बालक ब्रह्मचर्य-आश्रममें प्रवेश करता था और गुरुके यहाँ रहकर वेदशास्त्रका अध्ययन करता था। ब्रह्मचारीके लिये मद्य-मांस-ग्रहण, गन्धद्रव्य-सेवन, स्वादिष्ट और मधुर भोजन, स्त्रीप्रसंग,नृत्यगीतादिका अवलोकन-श्रवण इत्यादि सब प्रकारके व्यसन निषिद्ध थे। अच्छे पवित्र गृहस्थके यहाँसे भिक्षा लेना और आचार्यके लिये आवश्यक वस्तुओंका जुटाना, प्रातःसायं होम करना, भिक्षा-समय छोड़ सदा आचार्यकी आँखके सामने रहना उसका कर्तव्य था।—(श० सा०) विशेष प० पु० स्वर्ग० अ० ५१ से ५३ तक देखिये।

नोट-३—'*सोचिअ गृही जो मोह बस*……' इति। (क) गृहस्थका धर्म है पंचमहायज्ञ करना—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार, मनुष्ययज्ञ। यही कर्मपथका तात्पर्य है—(शीला) '*मोह बस*' से जनाया कि नित्य, नैमित्तिक महायज्ञादि कर्मोंका संन्यास वा त्याग नहीं बन सकता। ऐसा त्याग अज्ञानमय है। जीवन-निर्वाहकी भी सफलता कर्मोंके बिना नहीं हो सकती। मनुष्यपर देव, पितृ और ऋषि तीनके ऋण हैं। शास्त्र-विहित कर्मोंद्वारा इन ऋणोंसे मुक्त होना चाहिये। यज्ञसे बचे हुए अन्नके द्वारा किया हुआ जीवन-निर्वाह यथार्थ ज्ञानका उत्पादक होता है। यज्ञरहित पापरूप अन्नसे पोषण किया हुआ मन तो विपरीत ज्ञानका उत्पादक हो जाता है। आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर स्मृति स्थिर होती है, उससे सब बन्धनोंसे छुटकारा मिलता है अतः महायज्ञादि कर्म आजीवन कर्तव्य हैं। इन कर्मोंको बन्धनकारक समझकर छोड़ देना मोह है, अज्ञान है। और अज्ञान तमोमूलक है। अतः ऐसा त्याग तामसी कहा गया है। यथा—'**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥**' (गीता १८।७)

नोट-४—'*सोचिअ जती प्रपंच रत*……' इति। (क) संन्यासियोंके लिये शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके विधान हैं जिनमेंसे बहुत-से 'विवेक' और 'वैराग्य' शब्दोंमें पूज्य कविने सूचित कर दिये। वनमें रहना, सदा विचरते रहना, कौपीन, दण्ड, कमण्डलु ही अपने पास रखना, भिक्षाद्वारा जीवन-निर्वाह करना और सदुपदेश देना इत्यादि। 'यती' का अर्थ है—इन्द्रियनिग्रहद्वारा ईश्वरप्राप्तिका यत्न करनेवाला। ऐसा न करके प्रपञ्च (अर्थात् लोकव्यवहार पञ्चविषयों) में लग जाय, यथा—'*बहु दाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥*' (७।१०१) तो वह शोचनीय है।

☞ नारदपरिव्राजकोपनिषद् पञ्चम उपदेशमें संन्यासियोंके धर्मादिका वर्णन मिलता है। उसमें बताया है कि जिसने काष्ठका दण्ड धारण करके भी मनमें सम्पूर्ण कामनाओंको स्थान दे रखा है और ज्ञानसे सर्वथा शून्य है वह संन्यासी महारौरवादि नरकोंमें पड़ता है। यथा—'**काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञितान्॥**' (प० पु० स्वर्ग० अ० ५९, ६०। २) में विस्तृत वर्णन है।

नोट-५—गृहीके बाद वानप्रस्थको न कहकर यतीके धर्म कहे—पंजाबीजी एवं रा० प्र० का मत है कि छन्द-निमित्त क्रमभंग हुआ। अतः दोष नहीं है। अर्थ करनेमें क्रमसे पाठका अन्वय कर लें, क्योंकि नियम है कि पाठसे अर्थक्रम बली है।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि—(१) कविकी दृष्टि क्रमपर नहीं है। उन्होंने चारों वर्णोंके धर्म कहे, अब चारों आश्रमोंके धर्म कह रहे हैं। इतनेसे ही काम है। दूसरे, गृहीके आश्रित तीनों ही हैं। तीनों ही प्रधान हैं, अतएव यतीको ही साथ लिख दिया, क्रमका विचार नहीं किया।

पं० रामकुमारजी—(२) मुख्य आश्रम दो ही हैं—गार्हस्थ्य और संन्यास। अन्य दो आश्रम इन्हीं दो आश्रमोंके साधक या पोषक हैं। वीर्यसंचयसे सन्तानकी प्राप्ति और विद्यासे धनका संचय होगा, जो दोनों गृहस्थके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकार वानप्रस्थसे संन्यासके योग्य होता है। गृह-सेवनसे शरीर पुष्ट हुआ है और इन्द्रिय प्रबल हुई है,जब वानप्रस्थ करेगा तब ये दोनों शान्त होंगे, तब संन्यास-आश्रमके योग्य होगा। अतएव दोनोंको मिलानेके लिये क्रमभङ्ग किया। जैसे, नामकरण-संस्कारमें चारों भाइयोंकी जोड़ी मिलानेके लिये भरत-शत्रुघ्नको बीचमें रखा और आदि-अन्तमें राम-लक्ष्मणको।

किसीका मत है कि दोनोंका कर्म एक है, अत: साथ रखा। एकको कर्मत्याग निषिद्ध है, सो वह कर्मको छोड़ बैठता है कि जिसमें आगेका अधिकारी बनता। और दूसरेको कर्मत्याग चाहिये सो गृही बना है।

प० प० प्र०—स्वामीजी लिखते हैं कि गृहस्थ और संन्यासीको साथ रखनेमें अभिप्राय यह है कि गृहस्थ रहकर भी जो मोहवश कर्मपथका त्याग करता है वह गृही शोचनीय है; इससे भी अधिक वह शोचनीय है जो परमार्थसाधक संन्यासी होकर, विधिपूर्वक कर्मपथका त्याग करके भी फिर प्रपञ्चरत होता है; क्योंकि उसका यह व्यवहार वमनको खानेवाले कुत्तेके समान है। नारदपरिव्राजकोपनिषद्में भी इन दोनोंका वर्णन एक ही श्लोकमें आया है। यथा—'**द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा। निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥**' (६। ३०) अर्थात् कर्म न करनेवाला गृहस्थ और कर्मपरायण भिक्षु (यती)—ये दोनों आश्रमोंके विपरीत व्यवहार करनेके कारण कभी शोभा नहीं पाते। मानसका यह दोहा मानो इस श्रुतिका अनुवाद ही है। जैसे श्रुतिमें दोनोंका अशोभित होना एक साथ कहा वैसे ही दोहेमें एक साथ कहा। यतीके पश्चात् वानप्रस्थका उल्लेख करनेमें यह भी भाव है कि ऐसे यतीसे अपना धर्म पालन करनेवाला वानप्रस्थ श्रेष्ठ है।

नोट—६ '***बैखानस सोइ सोचै जोगू।*......**' इति। इस आश्रमवालेको बस्तीसे अलग वनमें रहना और वहाँके फल खाना और उन्हींसे पञ्चयज्ञ करना चाहिये। शय्या, वाहन, वस्त्र, पलङ्ग आदि सब त्याग देना चाहिये। जब इस आश्रममें रहकर मनुष्य पूर्ण वैराग्यसम्पन्न हो जाय तब उसे संन्यास लेना चाहिये। (श० सा०) प० पु० स्वर्ग० अ० ५८ में वानप्रस्थके धर्म विस्तारसे कहे हैं।

नोट—७ प्रथम संस्करणमें हमने श्रीबन्दन पाठकजीकी हस्तलिखित पोथीसे ब्रह्मचारी आदिके सम्बन्धके श्लोक दिये थे। उनका पता उन्होंने बहुत अशुद्ध दिया था। उनमेंसे हमें बहुत-से मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृतिमें मिले। केवल दो-तीनका पता नहीं चला। अत: यहाँ वे अर्थसहित दिये जाते हैं—

यथा—'**मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मादीप इवाचलः। संज्ञे यस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥**' (३। १०९) **अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम्। ध्येय आत्मास्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभुः॥**' (१११) '**यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम्। सावधानस्तदाभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति॥**' (याज्ञवल्क्य० ११२) '**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥**' (मनु० १०। ६३) '**यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयानितराश्रमैः। वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा॥**' (भा० ३। १४। १९) '**यतीनां प्रशमो धर्मः नियमो वनवासिनाम्। दानमेकं गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम्॥**' अर्थात् पूर्वोक्त नाड़ियोंके बीचमें जो चन्द्रसमान प्रकाशमान मण्डल है उसमें दीपवत् अचल आत्मा विराजमान है, उसको जानना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाता है॥ (१०९) मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर दीपवत् प्रकाशमान आत्माका ध्यान करना चाहिये॥ (१११) शास्त्रप्रतिपादित शुद्धरीतिसे सावधानपूर्वक सामवेदका पाठ करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है॥ (११२) (यह ब्रह्मचारियोंके धर्म हैं।) अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियनिग्रह—ये चारों वर्णोंके सर्वसाधारण धर्म हैं॥ १०। ६३॥ (गृहस्थधर्म प्रशंसनीय है क्योंकि) जैसे किलेका आश्रय लेकर राजा अपने शत्रुओं, चोरोंको सहज ही जीत लेता है वैसे ही हमलोग अन्य आश्रमोंमें (स्त्री आदि गृहस्थके आश्रयसे) दुर्जय इन्द्रियरूपी शत्रुको जीत लेते हैं। (भा० ३। १४। १९) मन और इन्द्रियोंको शान्त करना संन्यासिओंका धर्म है। नियममें रहना वानप्रस्थोंका धर्म है। दान देना गृहस्थोंका धर्म है और

गुरुसेवा करना ब्रह्मचारियोंका धर्म है। (अज्ञात) पुनश्च, '**चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा। कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥**' अर्थात् गुरुने आज्ञा दी हो या न, वह नित्यप्रति वेदाध्ययन करे और गुरुके हितमें तत्पर रहे। (मनु० अ० २। १९१) *'सोचिअ बटु निज ब्रत'''''।'* (१७२। ८) में दिये हुए उपदेशसे यह श्लोक मिलता हुआ है। और धर्म ये हैं—'**कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥**' (अज्ञात) तथा '**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥**' (मनु० अ० ३। ७०) अर्थात् कर्म-मन-वचनसे सदा अष्टमैथुनका त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है। अध्ययन और अध्यापनको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। तर्पणको पितृयज्ञ, होमको देवयज्ञ, बलिदानको भूतयज्ञ और अतिथिपूजनको मनुष्ययज्ञ कहते हैं॥ (७०)

नोट—८ *'सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी।'''''* इति। (क) ये सब घोर पाप हैं, नरकमें डालनेवाले हैं, यथा—*'अघ कि पिसुनता सम कछु आना।'* (७। ११२। १०) क्रोध कारण पाकर तो मुनियोंको भी हो जाता है, इसीसे *'अकारण क्रोधी'* कहा, यथा—*'सुनु प्रभु बचन अवज्ञा किए। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिए॥'* (७। १११। १५) *'क्रोध पापकर मूल'* है, *'जेहिं बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल।'* *'परद्रोही कि होइ निसंका'* यह नियम है, तो फिर जिन्होंने जन्म दिया, भगवत्पथ दर्शाया, उनके द्रोहका फल क्या कहा जा सके। ये नरकगामी होते हैं यथा—'**अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्। नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥**' (चाणक्य० ७। १६) अर्थात् अत्यन्त क्रोध, कटु भाषण, निर्धनता, स्वजनोंसे वैर, नीचोंसे संगति, कुलहीनकी सेवा—ये जिस मनुष्यमें हों, उसे समझना चाहिये कि यह पूर्वजन्ममें नरकमें था। भाव यह कि फिर नरकमें जायगा, अतः शोचनीय है। तथा '**अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः।**' (मनु० २। २३४) अर्थात् जो इनका (माता-पिता-गुरुका) अनादर करते हैं उनके सभी धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं। (ख) अकारण क्रोधी है इससे माता-पिता-गुरुका द्रोही है। अथवा, ये सब पूज्य हैं इनके समीप जाते ही क्रोध शान्त हो जाता है पर वह इनसे द्रोह करता है। क्रोध शान्त न होनेका कारण *'अकारण क्रोधी'* है। कारण क्रोधीका क्रोध शान्त हो जाता है, अकारणका नहीं। (पु० रा० कु०)

नोट—९ कुछ लोग परशुरामजीका उदाहरण देते हैं कि वे भी तो *'अकारण क्रोधी'* थे। परन्तु वे अवतार हैं, उनका अवतार जिस कार्यके लिये हुआ उसके योग्य क्रोध भी था। ईश्वर या देवता जो करें वह सब हमारा करणीय नहीं है यथा—'**यत्कृतं जामदग्न्येन पितुरादेशवर्त्तिनाम्। तदन्येन न कर्तव्यं न देवचरितं चरेत्॥**'; '**ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।**' (भागवत १०। ३३। ३२) अर्थात् पिताकी आज्ञासे परशुरामजीने मातृवधादि किये, पर औरोंको ऐसा न करना चाहिये। बड़ोंका आचरण सर्वसाधारण लोग न करें। (अज्ञात); ईश्वरों-(समर्थों-) का उपदेश सत्य मानकर वैसा आचरण करे, परन्तु उनके सब आचरण सर्वसाधारणको नहीं करने चाहिये। विशेष *'समरथ कहँ नहिं दोषु'''।'* (१। ६९) में देखिये।

टिप्पणी—१ *'सब बिधि सोचिअ पर अपकारी।'''''* इति। यह केवल हिंसक मनुष्यों और मांसाहारियोंके लिये कहा है। अपने तनके सुखसे इन्हें मतलब है। यथा—'**यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम्।**' (भा० ३। १४। २७) अर्थात् जो वस्त्रमाला, आभूषण और अनुलेपन आदिसे कुत्तोंके भक्ष्यरूप इस शरीरको ही आत्मा मानकर उसका लालन-पालन करते हैं। पुनश्च यथा—'**पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु'''**॥' (वाल्मी० २। ७५। ३४) यह भरतजीकी शपथोंमेंसे एक है कि जो पुत्र स्त्री-सेवक आदिके घरमें वर्तमान रहते हुए भी स्वयं अकेला उत्तम भोजन करे उसको जो पाप होता है वह मुझे लगे। इससे जनाया कि वह शोचनीय है। (म० भा० शान्तिपर्वमें पराशरजीने भी शोचनीयोंके कुछ नाम गिनाये हैं।)

टिप्पणी—२ *'सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई॥'* इति। (क) पूर्व जिनका कथन किया वे एक-एक विधिसे शोचनीय हैं और पर-अपकारी एवं हरिविमुख सब विधिसे शोचनीय